महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Center University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

ज्ञान शांति मैत्री

एम.ए. समाजशास्त्र

पाठ्यक्रम कोड : एम.ए.एस. - 015

प्रथम सेमेस्टर

पाठ्यचर्या कोड : 03

पाठ्यचर्या का शीर्षक : समाजशास्त्र की अवधारणाएँ

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

मार्गदर्शन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. कृष्ण कुमार सिंह
प्रभारी निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. शैलजा दुबे
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग उच्च
शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादक मंडल

प्रो. एस.एन. चौधरी
प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग
बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य
अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभु जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र,
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अभिषेक त्रिपाठी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड -1
इकाई 1 - श्री अभिषेक त्रिपाठी
इकाई 2 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 3 - डॉ. सुनील मिश्र
इकाई 4 - श्री अनुराग कु. पाण्डेय

खंड - 2
इकाई 1- श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 2- श्री अभिषेक त्रिपाठी
इकाई 3- डॉ. सुनील मिश्र

खंड - 3
इकाई 1- डॉ. वंदना चतुर्वेदी
इकाई 2 - डॉ. प्रतिमा गोंड
इकाई 3- श्री अनुराग कु. पाण्डेय

खंड - 4
इकाई 1- श्री अनुराग कु. पाण्डेय
इकाई 2 - डॉ. स्वाती एस.मिश्रा
इकाई 3- डॉ. स्वाती एस.मिश्रा

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
सहायक कुलसचिव, दू.शि. निदेशालय

श्री अरविन्द कुमार
टेक्निकल असिस्टेंट, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा ठाकरे
टंकण/फार्मेटिंग/इंडिटींग
दू.शि. निदेशालय

श्री सचिन सोनी
सॉफ्टवेयर स्पेशलिस्ट, दू.शि. निदेशालय

श्री गुड्डू यादव
कंप्यूटर ऑपरेटर, दू.शि. निदेशालय

पाठ्यचर्या कोड : एमएएस- 03
पाठ्यचर्या का नाम : समाजशास्त्र की अवधारणाएँ

क्रेडिट्स : 04 क्रेडिट

शिक्षण उद्देश्य :

विद्यार्थी निम्नलिखित को समझने में सक्षम हो सकेंगे –

- समाजशास्त्र की विषयवस्तु एवं इसकी उपयोगिता को समझ सकेंगे।
- छात्र समाज एवं समुदाय को समझ सकेंगे एवं इन दोनों में अंतर को स्पष्ट कर सकेंगे।
- समाजशास्त्र विषय एवं समाज के बीच के अंतरसंबंधों को समझ सकेंगे।
- सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा को समझ सकेंगे। इनमें अंतर को समझने में सक्षम हो सकेंगे।
- सामाजिक संस्थाओं की कार्यपद्धति तथा इनकी समालोचना करने में छात्र सक्षम होंगे।
- विद्यार्थी संस्कृति एवं सभ्यता को भी समझ सकेंगे। इनमें अंतर को भी स्पष्ट कर सकेंगे।

मूल्यांकन के मानदंड :

1. सत्रांत परीक्षा : 70 %
2. सतत आंतरिक मूल्यांकन : 30 %

समाजशास्त्र की अवधारणाएँ

खण्ड (1) समाजशास्त्र की परिभाषा एवं मुख्य अवधारणाएँ

इकाई : 1 समाजशास्त्र की परिभाषा, विषय क्षेत्र एवं विषयवस्तु

इकाई : 2 समाज : अर्थ, प्रकार एवं अवधारणाएँ

इकाई : 3 समुदाय एवं सामाजिक समूह

इकाई : 4 समिति एवं संस्था

खण्ड (2) सामाजिक संरचना

इकाई : 1 प्रस्थिति एवं भूमिका

इकाई : 2 सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता

इकाई : 3 आदर्श, मूल्य एवं सामाजिक प्रतिमान

खण्ड (3) सामाजिक संस्थाए एवं सामाजीकरण

इकाई : 1 समाजीकरण : अर्थ, परिभाषा, सिद्धांत एवं प्रकार

इकाई : 2 परिवार : अर्थ, प्रकार्य एवं नवीन प्रवृत्तियां

इकाई : 3 वर्ग : अर्थ, प्रकार एवं विशेषताएँ

खण्ड (4) संस्कृति एवं सभ्यता

इकाई : 1 संस्कृति: अर्थ, परिभाषा एवं प्रकार

इकाई : 2 संस्कृति : तत्त्व, संकुल एवं सांस्कृतिक प्रतिमान

इकाई : 3 सभ्यता : अर्थ, परिभाषा एवं संस्कृति तथा सभ्यता में अंतर

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 – समाजशास्त्र की परिभाषा एवं मुख्य अवधारणाएँ**	
	इकाई 1–समाजशास्त्र की परिभाषा, विषय क्षेत्र एवं विषयवस्तु	4-20
	इकाई –2 समाज : अर्थ, प्रकार एवं अवधारणाएँ	21-30
	इकाई –3 समुदाय एवं सामाजिक समूह	31-39
	इकाई –4 समिति एवं संस्था	40-50
2	**खंड - 2 सामाजिक संरचना**	
	इकाई -1 प्रस्थिति एवं भूमिका	51-63
	इकाई -2 सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता	64-78
	इकाई -3 आदर्श, मूल्य एवं सामाजिक प्रतिमान	79-85
3	**खंड - 3 – सामाजिक संस्थाए एवं सामाजीकरण**	
	इकाई -1 समाजीकरण : अर्थ, परिभाषा, सिद्धांत एवं प्रकार	86-99
	इकाई -2 परिवार : अर्थ, प्रकार्य एवं नवीन प्रवृत्तियां	100-115
	इकाई –3 वर्ग : अर्थ, प्रकार एवं विशेषताएं	116-130
4	**खंड - 4 – संस्कृति एवं सभ्यता**	
	इकाई –1 संस्कृति : अर्थ, परिभाषा एवं प्रकार	131-144
	इकाई –2 संस्कृति : तत्व, संकुल एवं सांस्कृतिक प्रतिमान	145-156
	इकाई –3 सभ्यता : अर्थ, परिभाषा एवं संस्कृति तथा सभ्यता में अंतर	157-163

खंड-1 समाजशास्त्र की परिभाषा एवं मुख्य अवधारणाएँ

इकाई-1 समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषय क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य

1.1.1. प्रस्तावना

1.1.2. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

1.1.3. समाजशास्त्र का क्षेत्र

1.1.4. मैक्स वेबर क विचार

1.1.5. सारांश

1.1.6. बोध प्रश्न

1.1.7. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.1.0. उद्देश्य

इकाई 01 के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी निम्नलिखित में सक्षम हो सकेंगे-

1. विद्यार्थी समाजशास्त्र के अर्थ एवं परिभाषा से परिचित होंगे।
2. विद्यार्थी समाजशास्त्र के अर्थ एवं परिभाषा को लिखने एवं समझने में सक्षम होंगे।
3. विद्यार्थी समाजशास्त्र की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र को जानने में सक्षम हहोंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र एक प्रमुख सामाजिक विज्ञान के रूप में जाना जाता है। मानव समाज एवं उससे संबंधित सभी घटनाओं एवं सामाजिक समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र में आता है। समाजशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव जटिल समाजों और विभिन्न सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए किया गया। समाजशास्त्र के विकास के संदर्भ में टी.वी. बोटोमोर (Bottomore) ने लिखा है कि हजारों वर्षों से लोगों ने उन समाजों एवं समूहों का अवलोकन और चिन्तन किया है जिसमें वे रहते हैं। फिर भी समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है और एक शताब्दी से अधिक पुराना नही है। डान मार्टिण्डेल (Don Martindale) ने बताया है कि यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक है तो स्वभावत: वह समाजशास्त्री भी है क्योंकि समाजिक जीवन उसका स्वभाविक उद्देश्य है। परंतु समाज में रहने, सामाजिक संबंध स्थापित करने

और सामाजिक जीवन में भागीदार बनने मात्र से व्यक्ति समाजशास्त्री नही बन जाता अत: आवश्यकता इस बात की है कि यह समझने का प्रयत्न किया जाय कि वास्तव में समाजशास्त्र क्या है ?

समाजशासत्र 'समाज' का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके द्वारा समाज या सामाजिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। इस नवीन विज्ञान को जन्म देने का श्रेय फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) को है। आपने ही सर्वप्रथम सन् 1808 में इस शास्त्र 'समाजशास्त्र' नाम दिया। इसी कारण इनको 'समाजशास्त्र का जनक' भी कहा जाता है। आरम्भिक लेखकों में काम्ट के अलावा दुर्खीम, स्पेंसर तथा मैक्स वेबर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

समाजशास्त्र की उत्पत्ति के मूल स्रोतों पर प्रकाश डालते हुए गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है कि मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति राजनीतिक दर्शन, इतिहास, विकास के जैविकीय सिद्धांत एवं उन सभी सामाजिक और राजनीतिक सुधार के आंदोलनों पर आधारित है। अतएव समाजशास्त्र की उत्पत्ति फ्रांसी की राजनीतिक क्रांति एवं बिट्रेन की औद्योगिक क्रांति की निर्णायक भूमिका रही है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति उन प्रयत्नों का परिणाम है जिनके द्वारा सामाजिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बीच पाये जाने वाले सामान्य आधार को ढूंढा गया।

1.1.2. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द 'सोशियस' (Socius) लैटिन भाषा से और दूसरा शब्द 'लोगस' (Logas) ग्रीक भाषा से लिया गया है। 'सोशियस' का अर्थ है – समाज और 'लोगस' शास्त्र इस प्रकार 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने 'Sociology' के स्थान पर 'इथोलॉजी' (Ethology) शबद को प्रयुक्त करने का सुझाव दिया और कहा कि 'Sociology' दो भिन्न भाषाओं की एक अवैध संतान है, लेकिन अधिकांश विद्वानों ने मिल के सुझाव को नही माना। समाजशास्त्र को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। विभिन्न समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोणों में भिन्नता देखने को मिलती है, लेकिन अधिकांश समाजशास्त्री समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान मानते है। समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करने की द्रष्टि से विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर विचार व्यक्त किए हैं। उनके द्वारा दी गयी समाजशास्त्र की परिभाषाओं को मुख्यत: निम्नलिखित चार भागों में बांटा जा सकता है :

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में।
2. समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के अध्ययन के रूप में।
3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में।
4. समाजशास्त्र सामाजिक अन्त: क्रियाओं के अध्ययन के रूप में।
5.

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में –

समाज के अध्ययन के रूप में गिडिग्स, समनर, वार्ड, आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है जो सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में परिभाषित किया है तो सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन कर सके। कुछ प्रमुख विद्वानों ने समाजशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया है –

वार्ड (Word) के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।"

गिडिग्स (Giddings) के अनुसार, " समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।" आपने अत्यन्त भी लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का एक समग्र इकाई के रूप में व्यवस्थित वर्णन एवं व्याख्या है।

ओडम (Odum) के अनुसार "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।"

जी. डंकन मिचेल (G. Duncan Mitchell) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव समाज के संरचनात्मक पक्षों का विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक शास्त्र है।"

इन परिभाषाओं के आधार पर यह तो स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

2. समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों के अध्ययन के रूप में

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक संबंधों, से अभिप्राय है दो या दो से अधिक से अधिक ऐसे व्यक्तियों के संबंधों से है जिन्हें एक-दूसरे का आभाष है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि संबंध सहयोगात्मक ही हो, संबंध संघर्षात्मक भी हो सकते है। समाजशास्त्र में इन दोनों प्रकार के सामाजिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक संबंध उस परिस्थिति में पाए जाते हैं जिसमें दो या अधिक 'व्यक्ति' अथवा दो या दो से अधिक समूह परस्पर अन्तर्क्रिया करें। सामाजिक संबंध तीन प्रकार के होते हैं –

1. व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच
2. व्यक्ति तथा समूह के बीच
3. एक समूह तथा दूसरे समूह के बीच

समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों का अध्ययन मानने वाले कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ इस प्रकार है –

मैकाइवर तथा पेज (Mad aver and page) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों क विषय में है, संबंधों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।"

क्यूबर (J. F. Cuber) के अनुसार, "समाजशास्त्र को मानव संबंधों के वैज्ञानिक शाखा के रूप में परिभाष्ज्ति किया जा सकता है।"

मैक्स वेबर (Max Meber) के अनुसार, "समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक संबंधों तथा कृत्यों का अध्ययन है।''

वान वीज (Von Wiese) के अनुसार, "सामाजिक संबंध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।''

आरनोल्ड एम. रोज (Arnold M. Rose) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानव संबंधों का विज्ञान है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक संबंधों का व्यवस्थित अध्ययन करता है। सामाजिक संबंधों के जाल को ही समाज कहा गया है। मनुष्य पारस्परिक जागरूकता और सम्पर्क के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों एवं समूहों के साथ अगणित सामाजिक संबंध स्थापित करता है। जब अनेक व्यक्ति और समूह विभिन्न इकाइयों के रूप में एक-दूसरे के साथ संबंधित हो जाते है, तब इन संबंधों के आधार पर जो कुछ बनता है, वही 'समाज' कहलाता है। ऐसे समाज या सामाजिक संबंधों का अध्ययन समाजशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है।

3. समाजशास्त्र समूहों के अध्ययन के रूप में

नोब्स, हाइन तथा फ्लेमिंग के अनुसार, "समाजशासत्र समूहों में लोगों का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।'' इसका तात्पर्य है कि समाजशास्त्र व्यवहार के उन प्रतिमानों की ओर ध्यान देता है जो संगभ्ति समुदायों में रहने वाले लोगों में पाये जाते हैं।

जॉन्सन (Johnson) ने समाजशास्त्र को सामाकिज समूहों का अध्ययन माना है। आपके ही शब्दों में, "समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है। सामाजिक समूह सामाजिक अंत: क्रियाओं की ही एक व्यवस्था है।'' आपकी मान्यता है कि समाजशास्त्र को 'सामाजिक संबंधों का अध्ययन' कह देने से काम नहीं चलेगा और हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर भी नहीं पहुंच सकेंगे। अत: समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों का विज्ञान माना जाना चाहिए। सामाजिक समूहों का अर्थ जॉन्सन क अनुसार केवल व्यक्तियों के समूह से नही होकर व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं की व्यवस्था से है। विभिन्न व्यक्ति जब एक दूसरे के संपर्क में आते हैं तो उनमें सामाजिक अन्त: क्रियाओं की व्यवस्था से है। विभिन्न व्यक्ति जब एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं तो उनमें सामाजिक अन्त:क्रिया उत्पन्न होती है और इन्ही अन्त:क्रियाओं के आधार पर समूह बनते हैं। समाजशास्त्र सामाजिक अन्त: क्रियाओं के आधार पर बनने वाले ऐसे सामाजिक समूहों का अध्ययन ही है। जॉनसन ने समाजशास्त्र में उन्ही सामाजिक संबंधों को महत्व दिया हे, जो सामाजिक अन्त: क्रियाओं के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। आपने लिखा है – "समाजशास्त्र के अंतर्गत व्यक्तियों में हमारी रुचि केवल वहीं तक है जहां तक वे सामाजिक अन्त: क्रियाओं की व्यवस्था में भाग लेते हैं।'' स्पष्ट है कि समूह के निर्माण में सामाजिक अन्त:क्रियाएँ आधार के रूप में हैं और इन्हीं के आधार पर बनने वाले सामाजिक समूहों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

4. समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में

कुछ समाजशास्त्री विद्वान समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित करते हैं। इनकी मान्यता है कि सामाजिक संबंधों की बजाय सामाजिक अंत:क्रियाएं समाज का वास्तविक आधार है। सामाजिक संबंधों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका ठीक से अध्ययन किया जाना बहुत ही कठिन है। अत: समाजशास्त्र में सामाजिक अन्त: क्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। अन्त:क्रिया का तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का जागरूक अवस्था में एक-दूसरे के सम्पर्क में आना और एक दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। सामाजिक संबंधों के निर्माण का आधार अन्त:क्रिया ही है। यही कारण है कि समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान माना गया है। कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएं इस प्रकार है –

गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "व्यापक अर्थ में समाजशास्त्र व्यक्तियों के एक-दूसरे के संपर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।"

गिन्सबर्ग (Grinsberg) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:क्रियाओं और अन्त:संबंधों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।"

जार्ज सिमेल (George Simmel) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:संबंधों के स्वरूपों का विज्ञान है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान है। कुछ प्रमुख पारंपरिक समाजशास्त्रियों की परिभाषाएँ इस प्रकार है –

अगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था और प्रगति का विज्ञान है।" आपकी इस परिभाषा के अनुसार समाजशास्त्र दो तथ्यों पर केंद्रित है –

1. व्यवस्था
2. प्रगति

कॉम्ट समाज को एक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। समाज के (मानव शरीर की तरह) भिन्न-भिन्न अंग हैं। ये अंग एक दूसरे पर आश्रित हैं और परस्पर संबंधित हैं। ये अपने अनेक कार्यों के द्वारा परस्पर सामंजस्य करते हैं। समाज में दिखाई देने वाला यह सामंजस्य और इसके विभिन्न अंगों में पाया जाने वाला एक मत्य ही सामाजिक व्यवस्था है – जिसका अध्ययन समाजशासत्र करता है। साथ ही समाजशास्त्र सामाजिक प्रगति का विज्ञान है। बौद्धिक और नैतिक विकास के आधार पर समाज के विभिन्न अंगों में जो निरन्तर परिवर्तन तथा संशोधन होता रहता है, उसी को कॉम्टे ने प्रगति कहा है।

इमाईल दुर्खीम, (Emile Durkheim) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधि का विज्ञान है।" दुर्खीम के अनुसार समाज की कुछ सामूहिक शक्ति होती है जो समाज के अधिकांश लोगों के द्वारा

मान्य होते हैं, जो पूरे समाज का नियमित और नियंत्रित करती है । ये सामूहिक शक्ति, विचार धारणाएँ, भावनाएँ प्रतीक आदि कुछ भी हो सकते हैं। इन्हीं का अध्ययन समाजशास्त्र करता है।

मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया व विश्लेषणात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है'' आपके अनुसार सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना समाजशास्त्र को समझना कठिन है । इसका कारण यह है कि जहां समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों एवं सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विशेष महत्व है। वहां सामाजिक क्रियाओं को समझे बिना इन दोनों को नहीं समझा जा सकता। स्वयं अनत:क्रियाओं का निर्माण सामाजिक क्रियाओं से ही होता है। अत: मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं को समझने पर विशेष जोर दिया है। समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया के अध्ययन को टालकट पारसन्स ने भी महत्वपूर्ण माना है । आपका मानना यह है कि सम्पूर्ण सामाजिक संरचना, सामाजिक संबंधों, समाज तथा सामाजिक व्यवस्था को 'क्रिया' की धारणा के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक – सांस्कृतिक प्रघटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्रकारों और अनेक अन्र्तसंबंधों का सामान्य विज्ञान है।'' आपने अत्यन्त बताया है कि समाजशास्त्र समाज के उन पहलुओं का अध्ययन करता है जो आवर्तक (Recurrent) स्थायी और सार्वभौमिक है। जो प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की विषय-वस्तु से संबंधित है, किन्तु फिर भी कोई भी सामाजिक विज्ञान उनका विशेष रूप से अध्ययन नहीं करता।''

अपने व्यापक रूप में समाजशास्त्र समाज व्यवस्था का अध्ययन करने वाला विज्ञान है । समाज व्यवस्था में सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक संबंध, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक संस्थाएं तथा इससे संबंधित प्रभाव एवं परिस्थितियां आती हैं। अन्य शब्दों में समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज व्यवस्था से संबंधित विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप से अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें सामाजिक संबंधों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है । सामाजिक संबंधों को समझने की द्रष्टि से सामाजिक क्रिया, सामाजिक अन्त:क्रिया एवं सामाजिक मूल्यों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

1.1.3. समाजशास्त्र का क्षेत्र

इंकल्स कहते हैं कि "समाजशास्त्र परिवर्तनशील समाज का अध्ययन करता है, इसलिए समाजशास्त्र के अध्ययन की न तो कोई सीमा निर्धारित की जा सकती है और न ही इसके अध्ययन क्षेत्र को बिल्कुल स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जा सकता है।'' क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि वह विज्ञान कहां तक फैला हुआ है। अन्य शब्दों में क्षेत्र का अर्थ उन सम्भावित सीमाओं से है जिनके अन्तर्गत किसी विषय या विज्ञान का

अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के संबंध में विद्वानों के मतों को मुख्यत: 2 भागों में बांटा जा सकता है –

1. स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय (Formal or Socialistic or particularistic school)
2. समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

प्रथमत या विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक विशेष विज्ञान है और द्वितीय विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है। इनमें से प्रत्येक विचारधारा को आगे उसके विस्तृत स्वरूप में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो कि इस प्रकार है –

1. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)

इस सम्प्रदायक प्रवर्तक जर्मन समाजशास्त्री जार्ज सिमेल हैं। इस सम्प्रदाय से संबंधित अन्य विद्वानों में वीरकान्त, वानविज, मैक्स वेबर तथा टानीज आदि प्रमुख हैं । इस विचारधारा को मानने वाले समाजशास्त्रियों को मत है कि अन्य विज्ञानों जैसे राजनीतिकशास्त्र, भूगोल, अर्थशास्त्र, इतिहास, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, आदि के समान समाजशास्त्र भी एक स्वतंत्र एवं विशेष विज्ञान है। जैसे प्रत्येक विज्ञान की अपनी कोई प्रमुख समस्या या सामग्री होती है जिसका अध्ययन उसी शास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। उसी प्रकार समाजशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन की जाने वाली भी कोई मुख्य सामग्री या समस्या होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही समाजशास्त्र एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र विज्ञान बन सकेगा और इसका क्षेत्र निश्चित हो सकेगा। इस सम्प्रदाय को मानने वालो का कहना है कि यदि समाजशास्त्र को सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने का प्रयत्न किया गया तो वैज्ञानिक आधार पर ऐसा करना संभव नहीं होगा। अत: समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों का अध्ययन नही करके इन संबंधों के विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन किया जाय। सामाजिक संबंधों के 'स्वरूपात्मक पक्ष' पर जोर देने के कारण ही इस सम्प्रदाय को 'स्वरूपात्मक सम्प्रदाय' कहा जाता है।

इस विचारधारा से जुड़े हुए समाजशास्त्रियों के विचार निम्नलिखित इस प्रकार हैं –

1. जार्ज सिमेल के विचार – (George simmer)

जार्ज सिमेल समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाना चाहते है। आपने समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन माना है। आपकी मान्यता है कि यदि अन्य विज्ञानों के समान समाजशास्त्र भी सामाजिक संबंधों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करने लगा तो यह विशिष्ट विज्ञान नही बन सकेगा। अत: समाजशास्त्र को सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। आपके अनुसार सभी भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं का अपना एक स्वरूप और एक अन्तर्वस्तु होता है जो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। स्वरूप और अन्तर्वस्तु का एक-दूसरे पर कोई प्रभाव नही पड़ता। उदाहरण के रूप में तीन एक-

से स्वरूप वाली बोतलों में से एक में पानी, दूसरो में दूध और तीसरी में शराब भरी जा सकती है। पानी, दूध और शराब का बोतलों के स्वरूप पर और इनके स्वरूप का बोतलों की अन्तर्वस्तु (पानी, दूध एवं शराब) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। बोतल की विशेष आकृति या बनावट उसका स्वरूप है और उसमें भरा हुआ पानी, दूध या शराब उसकी अन्र्तवस्तु है। इसी प्रकार सामाजिक संबंधों के स्वरूप और अन्र्तवस्तु में भी अन्तर पाया जाता है और ये भी एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते। अनुकरण, सहयोग, प्रतिस्पर्धा, प्रभुत्व, अधीनता, श्रम विभाजन आदि सामाजिक संबंधों के प्रमुख स्वरूप हैं। समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों कके इन्हीं स्वरूपों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। सामाजिक संबंधों के ये स्वरूप जब विभिन्न अन्र्तवस्तुओं जैसे आर्थिक संघ, धार्मिक संघ, राजनीतिक दल आदि में पाए जाते हैं – तो इनका अध्ययन समाजशास्त्र के अंतर्गत नहीं किया जाकर अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत नहीं किया जाकर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, तथा राजनीतिशास्त्र क अन्तर्गत किया जाता है। अत: समाजशास्त्र को तो केवल सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का ही अध्ययन करना चाहिए न कि अन्र्तवस्तुओं का। सिमेल के अनुसार अन्य सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक संबंधों की अन्र्तवसतु का और एक विशेष विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है।

2. वीर कान्त के विचार (Views of Vier Kant) –

वीर कान्त भी समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाने के समर्थक थे। आपने बताया है कि यदि समाजशास्त्र को अस्पष्टता एवं अनिश्चितता के आरोपों से बचना है तो उसे किसी मूर्त समाज का ऐतिहासिक द्रष्टि से अध्ययन नहीं करना चाहिए। आपके अनुसार, ''समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में मानसिक संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए।'' यही व्यक्तियों को एक-दूसरे से अथवा समूह से बांधते हैं। समाजशास्त्र इस पर विचार नहीं करता कि पिता पुत्र में अथवा माता और पुत्री में क्या संबंध है ? समाजशास्त्र तो यश, सम्मान, प्रेम, लज्जा, स्नेह, समर्पण, घृणा, सहयोग, संघर्ष आदि भावनात्मक या मानसिक पहलुओं का अध्ययन करता है। इन्हीं पहलुओं के आधार पर विभिन्न सामाजिक संबंध बनते हैं और इन्हीं सामाजिक संबंधों से समाज का निर्माण होता है। अत: समाजशास्त्र को इन्ही मानसिक अथवा भावनात्मक तत्वों या संबंधों के स्वरूपों तक अपने को सीमित रखना चाहिए। आपने स्वयं लिखा है – ''समाजशास्त्र उन मानसिक संबंधों के अंतिम स्वरूपों का अध्ययन है जो कि मनुष्यों को एक-दूसरे से बाधते हैं।''

1. वान विज के विचार (Views of Vonwiese)

आप भी सिमैल के समान समजाशास्त्र को एक विशेष विज्ञान बनाने के पक्ष में थे। आप लिखते हैं – ''समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो कि मानवीय संबंधों के स्वरूपों का अध्ययन है और यही उसका विशिष्ट क्षेत्र है।'' वान विज ने सामाजिक संबंधों के 650 स्वरूपों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि समाजशास्त्र की इन्हीं स्वरूपों के अध्ययन से अपने आपको लगाना चाहिए।

1.1.4. मैक्स वेबर क विचार

मैक्स वेबर समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान मानते हैं। आप समाजशासत्र को सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। सामाजिक क्रियाओं को आपने उन व्यवहारों के रूप में स्पष्ट किया है जो अर्थपूर्ण हैं और साथ ही जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। मैक्स वेबर की मान्यता है कि सामाजिक क्रियाओं का आधार व्यवहार है। अत: समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक व्यवहार को समझना है और उसकी व्याख्या करना है। सामाजिक क्रियाओं की विस्तृत व्याख्या एवं विश्लेषण से ही समाजशास्त्र में अनुभव और तर्क पर आधारित नियमों का निर्माण किया जा सकता है। आपने बताया है कि यदि समाजशास्त्र क अन्तर्गत सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों का अध्ययन किया जाएगा तो इसका क्षेत्र अस्पष्ट और असीमित हो जाएगा। अत: यह आवश्यक ह कि सामाजिक संबंधों का अध्ययन निश्चित सीमा में ही किया जाये। इस दृष्टि मैक्स वेबर मानते हैं कि समाजशास्त्र में सामाजिक क्रिया (Social Action) का ही अध्ययन किया जाना चाहिए।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के अन्य समर्थकों में टानीज, बोगल, रॉस, पार्क एवं बर्गेस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सम्प्रदाय से संबंधित सभी विद्वान समाजशास्त्र क क्षेत्र को सामाजिक संबंधों के स्वरूपों के अध्ययन तक सीमित मानते हैं।

2. समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थकों में सोरोकिन, दुर्खीम, हाबहाउस तथा ग्रिन्सबर्ग, आदि के नाम विशेष रूप से उललेखनीय हैं जो समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के बजाय एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्ष में हैं। इन विद्वानों के अनुसार समाज के संबंध में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए समाजशास्त्र के क्षेत्र को केवल सामाजिक संबंधों के स्वरूपों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। इसे तो सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करता है और इस संबंध में इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने दो तर्क दिये हैं :

1. समाज की प्रकृति जीवधारी शरीर के समान है जिसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं और एक अंग में होने वाला कोई भी परिवर्तन दूसरे अंगों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता है। अत: समाज को समझने के लिए उसकी विभिन्न इकाइयों या अंगों के पारस्परिक संबंध को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह कार्य तभी हो सकता है जब समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाया जाय और इसके क्षेत्र को व्यापक रखा जाय।
2. समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्ष में एक अन्य तर्क यह दिया गया है कि प्रत्येक सामाजिक विज्ञान के द्वारा समाज के किसी एक भाग या पक्ष का ही अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के रूप् में राजनीतिशास्त्र द्वारा समाज के एक पक्ष-राजनीतिक जीवन का ही अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के द्वारा आर्थिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। ऐसा कोई भी सामाजिक विज्ञान नहीं है जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का या सम्पूण्र समाज का समग्र रूप से

अध्ययन करता हो। अत: समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में यह कार्य करना है। ऐसा होने पर ही समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति को समझा जा सकता है। इसके अभाव में समाज के संबंध में हमारा ज्ञान काफी संकुचित एकांकी हो जाएगा।

इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण को विस्तृत अर्थों में समझने के लिए इस सम्प्रदाय से जुड़े हुए कुछ विद्वानों के विचारों को उल्लेखित किया जा रहा है –

1. **हाबहाउस के विचार (Views of Hobhouse)** - इंग्लैण्ड के समाजशास्त्री हाबहाउस समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक हैं। आपके अनुसार समाजशास्त्र केक अन्य सभी सामाजिक विज्ञानों के प्रमुख सिद्धांतों एवं सार तत्वों के बीच पाए जाने वाले सामान्य तत्वों का पता लगाना और उनका सामान्यीकरण करना है। समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में विभिनन सामाजिक विज्ञानों के बीच समन्वय स्थापित करना है। समाजशास्त्र यह कार्य निम्न प्रकारे से कर सकता है –
    1. सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं के सामान्य स्वरूपों (तत्वों) की जानकारी प्राप्त करके।
    2. समाज की स्थायी रखने तथा बदलने वाले कारकों को ज्ञात करके।
    3. सामाजिक विज्ञान की प्रवृत्ति एवं दशाओं को ज्ञात करके।
2. **दुर्खीम के विचार (Views of Durkheim)** – दुर्खीम को हमेशा समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समर्थक रूप में जाना जाता रहा है। आपके अनुसार सामान्य समाजशास्त्र का निर्माण करना सम्भव है जो विशिष्ट विज्ञानों के विशेष क्षेत्रों के नियमों पर आधारित अधिक सामान्य नियमों से मिलकर बना हो। ये ही सामूहिक रूप में सामाजिक जिवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्ही के अध्ययन से समाज को ठीक से समझा जा सकता है। दुर्खीम ने लिखा है, "हमारा विश्वास है कि समाजशास्त्रियों को विशिष्ट विज्ञानों जैसे कानून का इतिहास, प्रथा एवं धर्म, सामाजिक अंकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि में किए गए अन्वेषणों से परिचित रहने की अत्यधिक आवश्यकता है क्योंकि इनमें उपलब्ध सामग्रियों से ही समाजशास्त्र का निर्माण होना चाहिए।'' यद्यपि दुर्खीम समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने के पक्षधर हैं, किंतु आपने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि पहले समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाना है ताकि यह अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान अपने स्वतंत्र नियमों का विकास कर सके। इसके बाद इसे एक सामान्य विज्ञान के रूप में अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ समन्वय स्थापित करना है। आपने समाजशास्त्र में सर्वप्रथम उन सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पर जोर दिया जिनसे सामाजिक प्रतिनिधान का निर्माण होता हे। आपके अनुसार "समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों से दुर्खीम का तात्पर्य प्रत्येक समूह या समाज में पाए जाने वाले विचारों, भावनाओं एवं धारणाओं के एक कुलक (Set) से है जिन पर व्यक्ति अचेतन रूप से अपने

विचारों, मनोवृत्तियों एवं व्यवहार के लिए निर्भर करता है। इन्हें समाज के अधिकतर लोग अपना लेते हैं। आपके अनुसार विचार, भावनाएं एवं धारणाएं ही एक सामूहिक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसी को आपने सामूहिक प्रतिनिधान नाम दिया। ये सामूहिक रूप में सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं के अध्ययन से समाज को ठीक से समझा जा सकता है। आपने सामूहिक प्रतिनिधान की 2 विशेषताएं बतायी हैं –

1. यह सम्पूर्ण समाज में विद्यमान होते हैं एवं व्यक्ति की शक्ति से उपर होते हैं।
2. यह समाज के सभी लोगों को अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है।

समाजशास्त्र को इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधानों का अध्ययन करना चाहिए ताकि विभिन्न सामाजिक समस्याओं एवं परिस्थितियों के संबंध में जानकारी प्राप्त की जा सके।

3. सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)

सोरोकिन भी समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाने की पक्षधर थे। आपने लिखा है, "मान लीजिए यदि सामाजिक घटनाओं को वर्गीकृत कर दिया जाए और प्रत्येक वर्ग का अध्ययन एक विशेष सामाजिक विज्ञान करें, तो इन विशेष सामाजिक विज्ञानों के अतिरिक्त एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो सामान्य एवं विशेष विज्ञानों के संबंधों का अध्ययन करें।" कोई भी सामाजिक विज्ञान पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। प्रत्येक को किसी न किसी रूप में अन्य पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विज्ञान द्वारा समाज-जीवन के एक पक्ष या एक विशिष्ट प्रकार की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है, जबकि विभिन्न घटनाएं पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। अतः एक ऐसे सामान्य विज्ञान की आवश्यकता है जो विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों में समन्वय स्थापित कर सके ताकि समाज को एक समग्र रूप में समझा जा सके। समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक विज्ञानों के परस्पर सामाजिक संबंधों या उनके सामान्य तत्वों का अध्ययन करना है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार- समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक संबंधों में है, इस कारण नहीं कि वे संबंध आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक है, बल्कि इस कारण कि वे साथ ही सामाजिक भी होते हैं।

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु या विषय-सामग्री -

कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र और विषय-वस्तु में किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं किया है। दोनों को एक ही मान लिया गया है, परंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन दोनों में अत्यधिक अंतर है। विषय-क्षेत्र का तात्पर्य उन संभावित सीमाओं से है जहां तक किसी भी विषय का अध्ययन अधिक से अधिक किया जा सकता है। विषय-वस्तु का तात्पर्य उन निश्चित बातों से होता है या विषयों से है, जिनका अध्ययन एक शास्त्र के अंतर्गत किया जाता है। किसी विषय का क्षेत्र अनुमानित परिधि को और विषय-वस्तु अध्ययन

के वास्तविक विषयों को व्यक्त करते हैं। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के संबंध में यद्यपि विद्वानों में मतभेद है, परंतु अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक नियंत्रण एवं सामाजिक परिवर्तन को इनके अंतर्गत सम्मिलित करते हैं। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को समझने के लिए आगे हम विद्वानों के विचारों को देखेंगे-

सोरोकिन के विचार- सोरोकिन के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित की जानी चाहिए –

1. विभिन्न सामाजिक घटना के पारस्परिक संबंधों और संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए। जैसे- सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक एवं आचार संबंधी घटनाओं के परस्पर संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

2. सामाजिक और असामाजिक तथ्यों एवं घटनाओं के बीच पारस्परिक संबंधों तथा सह-संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए। जैसे- भौगोलिक एवं प्राणीशास्त्रीय दशाओं के सामाजिक जीवन एवं घटनाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन।

3. समाज की सभी सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान मानते हुए इसकी विषय-वस्तु के संबंध में सोरोकिन ने बताया है कि "समाजशास्त्र सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं उनके पारस्परिक संबंधों एवं सह-संबंधों का विज्ञान रहा है"।

इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के निर्धारण के तीन महत्वपूर्ण पथ बताएं हैं--

1. ऐतिहासिक पथ

2. आनुभविक पथ

3. विश्लेषणात्मक पथ

1. ऐतिहासिक पथ- इसके अंतर्गत समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को ज्ञात करने के लिए हम उन समाजशास्त्रियों के लेखों का अध्ययन करेंगे, जिन्हें समाजशास्त्र का प्रवर्तक माना जाता है। हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन प्रवर्तकों ने अपनी रचनाओं में किन विषयों को केंद्र-बिंदु में रखा है।

अगस्त कॉट (1798-18857) - आप समाजशास्त्र के पिता कहे जाते हैं। आपने अपना अधिकांश समय समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में स्थापित करने में लगाया न की उसकी विषय-वस्तु को परिभाषित करने में। **कॉट** का विश्वास था कि वर्तमान में समाजशास्त्र का उप-विभाजन संभव नहीं है, भविष्य में चाहे यह वांछित एवं संभव हो। अतः हम अगस्त कॉट से हमें समाजशास्त्र से संबंधित विषयों की कोई सूची या उप-क्षेत्र प्राप्त नहीं होता। यद्यपि **कॉट** का समाजशास्त्र का उप-क्षेत्र निर्धारण करने के प्रति उदासीन थे, फिर भी उन्होंने समाजशास्त्र को दो भागों में विभक्त किया है-

1. सामाजिक स्थैतिकी

2. सामाजिक गतिकी

1. सामाजिक स्थैतिकी- इसके अंतर्गत **कॉट** समाज की संस्थाओं जैसे- आर्थिक संस्था, परिवार एवं राज्य आदि के अध्ययन को सम्मिलित करते हैं। इस दृष्टि से समाजशास्त्र में विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाता है। स्वयं **कॉट** लिखते हैं, "समाजशास्त्र में स्थैतिकी के अध्ययन के अंतर्गत समाज व्यवस्था के विभिन्न अंगों की क्रिया तथा प्रतिक्रिया के नियमों का अध्ययन किया जाता है।"

आपका विश्वास था कि समाज के अंगों को पृथक करके से नहीं समझा जा सकता क्योंकि उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। उन्हें एक दूसरे के संबंध में ही देखा जाना चाहिए।

2. सामाजिक गतिकी - यदि स्थैतिकी में समाज के विभिन्न अंगों के अंतरसंबंधों का अध्ययन किया जाता है तो गतिकी में समाज को एक संपूर्ण इकाई के रूप में देखा जा सकता है। यह ज्ञात किया जा सकता है कि समय के साथ उसका विकास एवं परिवर्तन कैसे हुआ। **कॉट** का विश्वास था कि उसने यह समस्या हद कर दी है। उनका मत था कि समाज का विकास कुछ निश्चित स्तरों से हुआ है। विभिन्न स्तरों से गुजरते समय समाज पूर्णता एवं प्रगति की ओर अग्रसर होता है

हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903) - अपनी पुस्तक 'Principal of Sociology' में समाजशास्त्र का व्यवस्थित ढंग से विश्लेषण किया है। **स्पेंसर** के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अंतर्गत परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियंत्रण तथा उद्योग आदि विषय आते हैं। इनके अतिरिक्त **स्पेंसर** ने समितियों, समुदायों, श्रम-विभाजन, सामाजिक विभेदीकरण, स्तरीकरण, ज्ञान का समाजशास्त्र तथा कला और सौंदर्य के अध्ययन को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है। वे समाज के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन पर भी जोर देते हैं। जिससे यह ज्ञात हो सके कि इकाइयां किस प्रकार से संपूर्ण को प्रभावित एवं परिवर्तित करती हैं और संपूर्ण कि उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है। इनके पारस्परिक प्रभावों को स्पष्ट करने के लिए **स्पेंसर** ने यौन संबंधी मानदंडों एवं परिवार और राजनीतिक संस्था एवं धर्म के पारस्परिक संबंधों का उल्लेख किया है। आपने पुरोहित व्यवस्था और अन्य संस्तरण व्यवस्थाओं के अध्ययन का भी सुझाव दिया है जिससे यह ज्ञात हो सके कि इनकी संरचना में होने वाला परिवर्तन अन्य संरचनाओं परिवर्तन को कैसे प्रभावित करता है।

संपूर्ण समाज को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की एक इकाई मानने का सुझाव भी दिया है। विभिन्न प्रकार के समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करने का भी सुझाव दिया है। उनका मत है कि समाजशास्त्री सिद्धांतों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न समाजों की संरचना एवं कार्यों के तत्वों का अध्ययन करना होगा

दुर्खीम (1858-1717) - दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। 'Rules ऑफ Sociological Method' तथा अन्य रचनाओं के आधार पर हम इस संदर्भ में उनके विचारों को ज्ञात कर सकते हैं। **दुर्खीम** ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि समाजशास्त्र का संबंध सामाजिक संस्थाओं एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के अध्ययन से है। दुर्खीम ने 'Anne Sociologique' नामक प्रथम

समाजशास्त्रीय पत्रिका को 07 खंडों एवं कई उपखंडों में विभाजित किया है जो कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के बारे में उसके विचारों को व्यक्त करते हैं। उनके प्रमुख खंड इस प्रकार से हैं-

1. सामान्य समाजशास्त्र
2. धर्म का समाजशास्त्र
3. कानून एवं नैतिकता का समाजशास्त्र जिसमें राजनीतिक संगठन, सामाजिक संगठन, परिवार, विवाह आदि उपखंड आते हैं।
4. अपराध का समाजशास्त्र
5. आर्थिक समाजशास्त्र, जिसमें मूल्यों का माप, व्यवहारिक समूह आदि उपखंड आते हैं
6. जनांकिकी इसके उप-खंड में नगरीय एवं ग्रामीण समुदाय आते हैं
7. सौंदर्य का समाजशास्त्र

दुर्खीम ने 1896 में समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की यह रूपरेखा प्रस्तुत की जिसका उपयोग समकालीन समाजशास्त्र के पुनरावलोकन के लिए भी किया जा सकता है। दुर्खीम ने भी कोम्ट एवं स्पेन्सर की भांति सामाजिक संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों एवं उनके अपने पर्यावरण के साथ संबंधों के अध्ययन पर भी जोड़ दिया। आपने कहा कि समाजशास्त्र को **सामाजिक तथ्यों** का अध्ययन करना चाहिए तथा आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं नैतिकता असामाजिक तत्वों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन किया जाना चाहिए। इसके अभाव में उन्हें स्पष्ट रूप में नहीं समझा जा सकता। दुर्खीम ने भी स्पेन्सर की तरह समाजों को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की इकाई मानने की बात काही और विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन पर ज़ोर दिया।

मैक्स वेबर (1864-1920) – मैक्स वेबर ने अपना अधिकांश समय एक विशेष अध्ययन पद्धति ‘Verstehen’ की विवेचना करने में लगाया। ‘Verstehen’ सामाजिक अध्ययन की एक पद्धति है। इस पद्धति से अध्ययन करने वाला व्यक्ति स्वयं को उस परिस्थिति में रखकर अध्ययन करता है। वेबर ने सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक संबंधों को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु माना है। आपने धर्म, आर्थिक जीवन के विभिन्न पक्षों, मुद्रा, श्रम विभाजन, राजनीतिक दल, राजनीतिक संगठन, वर्ग, जाति, शहर एवं संगीत आदि विषयों पर विस्तृत कार्य किया। वेबर ने धर्म के आर्थिक प्रभावों का भी अध्ययन किया।

नीचे दिए हुए चित्र के माध्यम से समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को हम समझ सकते हैं-

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की सामान्य रूपरेखा

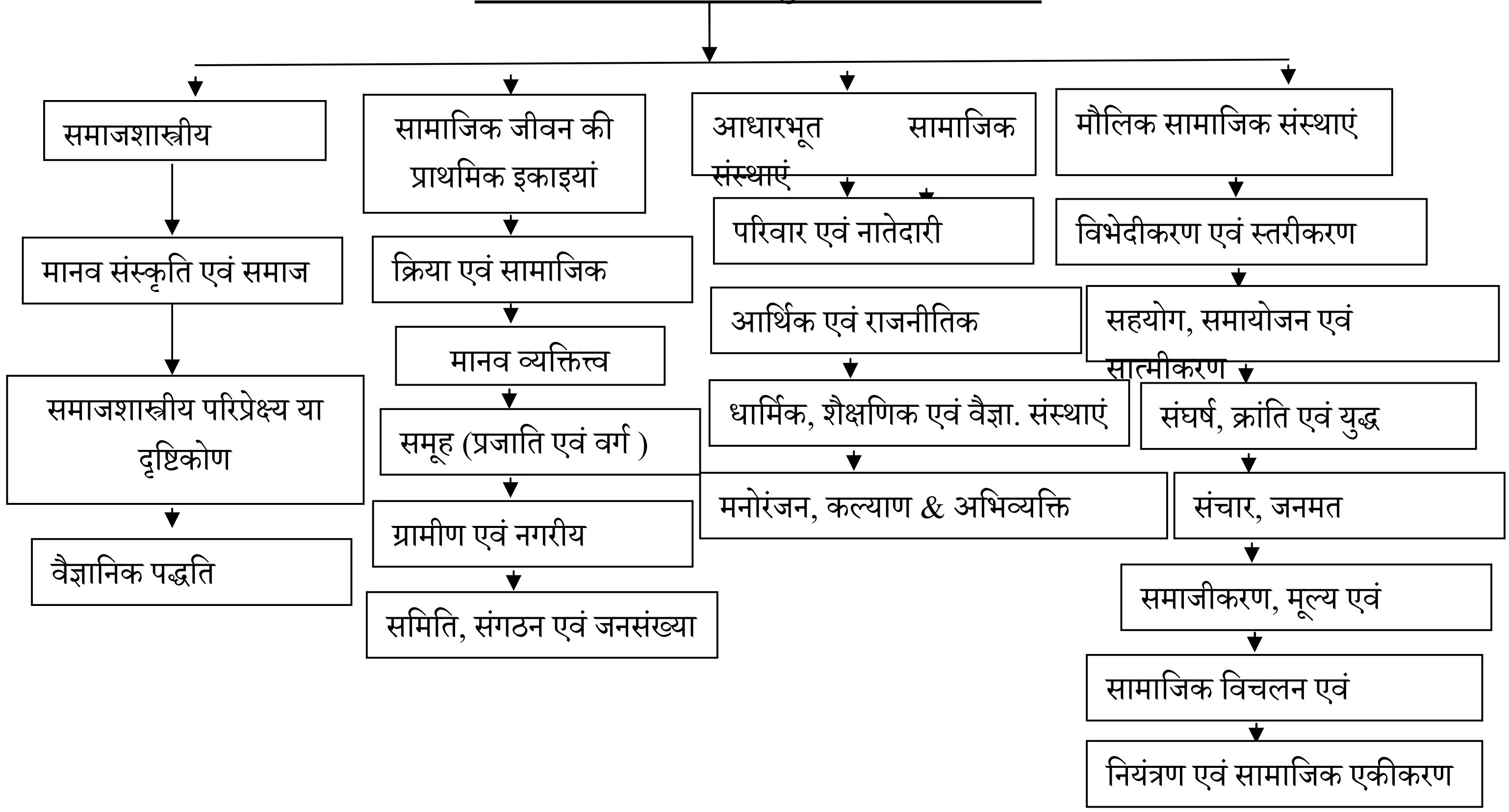

2. आनुभविक पथ - इसके अंतर्गत हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आजकल के समाजशास्त्री किस प्रकार के सामाजिक समस्या का अध्ययन कर रहे हैं, उनकी अध्ययन पद्धति क्या है? और किन विषयों से संबंधित हैं। इसे जानने के लिए हमारे पास तीन श्रोत हैं-

1. समाजशास्त्र की विभिन्न पुस्तकों में दी गई विषय सूची को ज्ञात करें
2. समाजशास्त्री समाजशास्त्र की किस शाखा से अपना संबंध जोड़ते हैं
3. उनके द्वारा किया गया शोध कार्य तथा समाजशास्त्र एवं उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए लेख एवं प्रतिवेदन।

इन तीनों स्रोतों के अध्ययन से जो विषय उभर कर आए हैं, उनमें प्रमुख हैं- वैज्ञानिक विधि, व्यक्तित्व और समाज, सांस्कृतिक मानव समूह, जनसंख्या, जाति एवं वर्ग, प्रजाति, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संस्थाएं, परिवार, शिक्षा एवं धर्म, सामुदायिक जीवन, सामाजिक संस्थाएं, सरकार एवं राजनीति आदि।

3. विश्लेषणात्मक पद- हम यह तर्क दे सकते हैं कि ना तो समाजशास्त्र की नींव डालने वालों ने और न ही वर्तमान में समाजशास्त्री जो कर रहे हैं, वह समाजशास्त्र की विषय-वस्तु निर्धारण का उचित तरीका है। इसका

निर्धारण तो तार्किक विश्लेषण के आधार पर किया जाना चाहिए। प्रत्येक मानवीय विज्ञान की शाखा की अपनी विषय-वस्तु है। उदाहरणार्थ- राजनीतिशास्त्र की विषय-वस्तु के अंतर्गत, शक्ति, अधिकार, सरकार आदि का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र की कुछ मूर्त एवं विशिष्ट विषय-वस्तु होनी चाहिए जिसका अध्ययन अन्य विज्ञानों में नहीं किया जाता हो। प्रमुख संस्थाएं, सामाजिक उत्पादन और सामाजिक सामाजिक क्रियाएं वे क्षेत्र हैं, जिन पर कोई अन्य विज्ञान दावा नहीं कर सकता है। इनमें से प्रत्येक विषय पर समाजशास्त्र में शोध कार्य एवं सिद्धांत निर्माण का कार्य हुआ है। इस प्रकार से समाजशास्त्र को सामाजिक विज्ञान से बचे हुए विषयों का अध्ययन करना चाहिए।

यद्यपि इन सभी समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की अलग-अलग व्याख्या की है, फिर भी उसमें कुछ समानताएं पाई जाती हैं जैसे- सभी समाजशास्त्री सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन को समाजशास्त्र में सम्मिलित करते हैं, यह संस्थाएं परिवार से लेकर राज्य तक की संस्थाएं हैं। सभी समाजशास्त्री विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन पर जोर देते हैं। सभी समाजशास्त्रीय स्वीकार करते हैं कि संपूर्ण समाज को समाजशास्त्रीय विश्लेषण की इकाई माना जाना चाहिए। यह भी देखे कि समाज में कुछ समानताएं एवं विभिन्नता है क्यों हैं? सभी समाजशास्त्री सामाजिक क्रिया या सामाजिक संबंधों को समाजशास्त्र के अध्ययन के अंतर्गत सम्मिलित करते हैं।

1.1.5. सारांश

एमएएस 03 की पाठ्यचर्या समाजशास्त्र की अवधारणाएँ के खंड की इकाई 01 समाजशास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र एवं विषय-वस्तु की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं एवं संबंधों का अध्ययन करता है। समाज का निर्माण सामाजिक संबंधों से होता है, संबंध परिवर्तित होते रहते हैं। जिससे समाज भी परिवर्तित होता रहता है। समाजशास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र एवं विषय-वस्तु को मनाने में विद्वानों में मत भिन्नता देखने को मिलती है। किंतु हम कह सकते हैं सामाजिक संबंधो, सामाजिक समूहो, सामाजिक अन्तः क्रियाओं एवं समाज ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है। अतः समाजशास्त्र इन्ही उप-विषयों का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

1.1.6. बोध प्रश्न

प्रश्न 01 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा बताएं।

प्रश्न 02 समाजशास्त्र के अध्ययन पद्धति की विस्तृत व्याख्या करें।

प्रश्न 03 समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्थापित करने वाले विद्वानों के विचारों को विस्तृत रूप लिखें।

प्रश्न 04 समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र एवं विषय-वस्तु की व्याख्या लिखें।

प्रश्न 05 विषय-वस्तु एवं विषय क्षेत्र में अंतर स्पष्ट करें।

1.1.7. संदर्भ ग्रंथ सूची

2. पाण्डेय, एस.एस. (2009). *समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: टाटा मेग्रा हिल.
3. पाण्डेय, गया. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा प्रकाशन.
4. शर्मा, जी.एल. (2012). *समाजशास्त्र*. आगरा: उपकार प्रकाशन.
5. गुप्ता, एल.एम. एवं शर्मा, डी.डी. (2005). *समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन.

इकाई 2. समूह की अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.2.0 उद्देश्य
1.2.1. सामाजिक समूह का अर्थ
1.2.2. सामाजिक समूह की परिभाषाएं
1.2.3. सामाजिक समूह के प्रकार
1.2.4. सामाजिक समूह की सैद्धान्तिक अवधारणा
1.2.5. सामाजिक समूह की विशेषताएं
1.2.6. सामाजिक समूह का वर्गीकरण
1.2.7. प्राथमिक एवं तीयक समूह एवं विशेषताएं
1.2.8. बोध प्रश्न
1.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सामाजिक समूह की अवधारणात्मक व्याख्या को विश्लेषित करने का कार्य किया जायेगा जिसमे निम्नलिखित बिन्दुओं को प्रकाश में रख कर उनके समाजशास्त्रीय पक्षों के विवेचना की जाएगी :

- सामाजिक समूह के अर्थ की व्याख्या
- सामाजिक समूह के वर्गीकरण का विश्लेषण
- सामाजिक समूह की पारिभाषिक व्याख्या
- सामाजिक समूह के विभिन्न आयामों पर प्रकाश
- सामाजिक समूह से सम्बद्ध अध्ययनों की विवेचना

1.2.1. सामाजिक समूह का अर्थ

सभ्यता के आरम्भ से ही मनुष्य किसी न किसी प्रकार से समूहों में रहता आया है। मनुष्य के समूह निर्माण को इस प्रकृति को विचारकों ने मुख्यतः तीन आधारों पर विश्लेषित किया है -

1. कुछ विचारकों का मानना है कि मनुष्य का जीवन बहुआयामी है जिससे उसकी आवश्यकता भी असीमित है, जिन्हें वह स्वयं में पूरा करने में सक्षम नही होता। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्ती के सन्दर्भ में वह समूहों का निर्माण करता है।
2. चूँकि मनुष्य अपने आरंभिक जीवन में अत्यंत निरीह अवस्था में रहता है, जब उसे अपने भौतिक अस्तित्वा की सुरक्षा हेतु अन्य लोगों के सहयोग की आवश्यकता होती है साथ ही उसके समुचित जीवन यापन के लिए सुरक्षा की भावना की आवश्यकता जीवन पर्यन्त पड़ती है, जिससे वशीभूत हो वह सामजिक समूह का निर्माण करता है।
3. अधिकाश विचारकों का यह मत है कि मनुष्य सामूहिक जीवन इसलिए व्यतीत करता है क्योंकि उसमे समुहशीलता की प्रवृत्ति (Gregrious Instinct) मिलती है।

किन्तु कारण चाहे जो भी हो मनुष्य के सामाजिक जीवन में समूह से अधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था शायद ही कोई हो। इसलिए **बोगार्डस, जानसन, नॉब, हाइन** तथा **फ्लेविन** जैसे विचारकों ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूह के अध्ययन का विज्ञान बताया है।

1.2.2. सामाजिक समूह की परिभाषाएं

1. **विलियम्स (Williams)** के अनुसार, "एक सामाजिक समूह लोगों का समुच्चय है जो अंतर्संबंधित भूमिका करते हुए तथा अंतर्क्रिया की एक इकाई के रूप में स्वयं तथा दूसरों के द्वारा मान्य होता है"।
2. **राबर्टन मर्टन (Robert Merton)** के अनुसार, "समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा मनुष्यों की एक संख्या का संकेत करती है जो एक दूसरे से स्थापित प्रतिमानों के अनुसार अंतर्क्रिया करते हैं"।
3. **न्यूकॉम्ब के अनुसार,** "दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के समूह को कहा जाता है जो कुछ चीजों के बारे में आदर्शमानकों में हिस्सा बांटते हैं तथा जिनकी सामाजिक भूमिकाएं घनिष्ठ रूप से अंतर्बद्ध है"।
4. **इ.एस. बोगार्डस** ने अपने पुस्तक सोशिओलाजी में उचित ही लिखा है कि "सामाजिक समूह से हम ऐसे व्यक्तियों की एक संख्या से अर्थ लगा सकते हैं, जिनकी सामान्य अभिरुचियाँ होती हैं जो एक-दूसरे को प्रेरित करती हैं, जिनमें सामान्य रूप से स्वामिभक्ति होती है और जो सामान्य कार्यों में भाग लेते हैं"।

1.2.3. सामाजिक समूह के प्रकार

समाजशास्त्र में सामाजिक समूह शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है जिसके आधार पर इसे अन्य समूहों से अलग स्पष्ट करना संभव हो पता है। **गिडिंग्स** ने सामाजिक समूह को अन्य समूहों से अलग करने के लिए उन्हें निम्नलिखित रूपों में विश्लेषित किया :

1. **सामाजिक समुच्चय (Social Aggregstes) :** इसे परिभाषित करते हुए **गिडिंग्स** ने कहा कि यह किसी एक समय में उपस्थित ऐसे लोगों का समग्र (Collection) है जिसमे लोगों के मध्य कोई निश्चित संबंध अथवा पारस्परिक जागरूकता का अभाव हो। जैसे - किसी मेले में आई हुई भीड़, रेलवे स्टेशन अथवा सिनेमा हॉल के बाहर एकत्र जन-समूह, बस तथा ट्रेन में यात्रा करने वाले यात्री, बाग़ में सैर करने वाले लोग आदि। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि ऐसे सामुह में किसी सामान्य जिज्ञासा बिंदु के कारण (Common Point of Attraction) लोग एक स्थान पर एकत्र होते हैं किन्तु पारस्परिक जागरूकता प्रदर्शित न करने के कारण उनमे सामाजिक संबंध विक्सित नही हो पते और यह संकलन हित-पूर्ती के साथ ही विघटित हो जाता है अर्थात अस्थाई प्रकृति का होता है।

   चूँकि इस प्रकार के संकलन में सामाजिक समूह की कुछ विशेशताएँ तो मिलती है। जैसे- इसमें संन्य लक्ष्य तथा व्यक्तियों का समग्र तो मिलता है किन्तु कुछ विशेशताएँ अनुपस्थित भी होती हैं। जैसे इसको निर्मित करने वाले लोगों में पारस्परिक जागरूकता अथवा निश्चित सामाजिक संबंधों पर आधारित स्थायित्व का अभाव होता है। अतः **गिंसबर्ग** तथा **बोटोमोर** ऐसे समूह को अर्ध्समुह अथवा आभासी समूह (Quasi Group) कहते हैं। Quasi शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1909 में कूले ने अपनी पुस्तक Social Organisation में प्राथमिक समूह के विश्लेषण के सन्दर्भ में किया था।

   ऊपर दिए गए उदाहरणों के कुछ अपवाद भी हैं। जैसे चार्टड बस में यात्रा करने वाले यात्री, अथवा ट्रेन में यात्रा करने वाले छात्रों का समूह, सामाजिक समूह के उदहारण होंगे। इसी प्रकार सिनेमा हॉल के बाहर एकत्र जन समूह अन्दर जाकर ऑडियंस में परिवर्तित हो जाता है। पार्क में टहलने वाले वृद्ध जन यदि नियमित क्रम में मिलने तथा अंतःक्रिया करने लगते है अथवा किसी औपचारिक या अनौपचारिक समूह का गठन कर लेते है तो वह सामाजिक समूह का उदहारण होगा।

2. **सामाजिक श्रेणी (Social Category) :** यह एक सांख्यिकीय समूह होता है जिसका निर्माण अध्ययनकर्ता द्वारा अध्ययन के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जाता है जिसमे अध्ययनकर्ता द्वारा लोगों को कुछ निश्चित विशेषताओं के आधार पर जिन्हें वे धारण करते हैं अलग-अलग समूहों में श्रेणीबद्ध किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक श्रेणी का निर्माण अध्ययनकर्ता के व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) दृष्टिकोण पर आधारित होता है। इसलिए एक श्रेणी को निर्मित करने वाले व्यक्ति का एक स्थान पर उपस्थित होना अथवा ऐसे किसी सम्मुहन की सदस्यता के प्रति जागरुक होना आवश्यक नही है। इसके उदहारण में समान आय, समान आयु, लिंग, शिक्षा स्तर अथवा किसी अन्य विशेषता जैसे

विकलांगता अथवा किसी विशिष्ट योग्यता के आधार पर निर्मित श्रेणी इसमें सम्मिलित है। समाजशास्त्र के सन्दर्भ में सामाजिक श्रेणी को **कोहोर्ट** भी कहते है।

3. **सामाजिक समूह (Social Group) :** गिडिंग्स के अनुसार सामाजिक समूह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह ई जिसके अंतर्गत व्यक्तियों के बीच एक-दूसरे को जानते-पहचानते हो। उनका कहना है की चूँकि भीड़ में सभी लोग एक-दूसरे को नही पहचानते। इसलिए सभी के मध्य अंतर्क्रिया विकसित नहीं हो पाती। इस प्रकार उन्होंने पारस्परिक जागरूकता अथवा जान-पहचान पर आधारित अंतःक्रिया को सामाजिक समूह की महत्वपूर्ण विशेषता मानी।

1.2.4. सामाजिक समूह की सैद्धान्तिक अवधारणा

सामाजिक समूह की आवधारणा को स्पस्ट करते हुए गिडिंग्स ने जान-पहचान अथवा पारस्परिक जागरूकता पर आधारित अंतःक्रिया को महत्वपूर्ण मन। उनके विचार के विश्लेषण में **आगबर्न-निफकाफ** का कहना है कि जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते है तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं। इस प्रकार उन्होंने भी दूसरों के व्यवहार को प्रभावित करने वाली सामाजिक क्रिया को सामाजिक समूह का आधार स्वीकार किया है। उनके इस विचार को **मकाइवर** एवं **पेज** ने भी स्वीकार किया है, किन्तु इस विचार से **मर्टन** सहमती व्यक्त नही करते क्योंकि उनका मानना है कि इन विचारों से यह स्पष्ट नही होता कि किन प्रकार के सामाजिक संबंधों से समूह विकसित नही होते। अतः उन्होंने समूह निर्माण के लिए उसके सदस्यों के मध्य अंतःक्रिया एवं सामाजिक संबंधों में बारंबारता तथा तथा स्तायित्व को आवश्यक माना, किन्तु साथ ही वह यह भी स्वीकार करते है कि छोटे समूहों में सदस्यों के मध्य यह अंतःक्रिया अथवा सामाजिक संबंध तो स्पष्ट तौर पर परिभाषित होते हैं किन्तु कुछ बड़े सन्दर्भ में यह स्पष्ट नही होता। इसलिए उन्होंने सामाजिक समूहों के निर्धारण हेतु दो महत्वपूर्ण पक्षों की भी चर्चा की है :

1. **व्यक्तिपरक पक्ष (Subjective View) :** इसका अर्थ यह है कि स्वयं समूह के सदस्यों में इस तथ्य का ज्ञान होना चाहिए कि वह उस विशिष्ट समूह का सदस्य है।
2. **वस्तुपरक पक्ष (Objective View) :** इसके अनुसार उस विशिष्ट समूह के अन्य सदस्यों के अतिरिक्त दूसरे लोग भी इस तथ्य को स्वीकार करें कि वह व्यक्ति उस विशिष्ट समूह का सदस्य है।

इस प्रकार मर्टन ने सामाजिक समूह के निर्माण के लिए निम्न तथ्यों को स्वीकार किया :

i. कम से कम दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना,

ii. कुछ हद तक बारंबारता पर आधारित अंतःक्रिया तथा उससे निर्मित स्थायी संबंध।

iii. वह व्यक्ति स्वयं को उस निश्चित समूह का सदस्य माने तथा अन्य लोग भी उसे इस रूप में स्वीकार करें।

जॉनसन ने **मर्टन** द्वारा प्रस्तुत विचारों को तो स्वीकार किया किन्तु साथ ही उन्होंने एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया। उनका कहना है कि समूह निर्माण हेतु उसके सदस्यों के मध्य अंतःक्रिया का स्वरुप सहयोगात्मक होना भी आवश्यक है क्योंकि अंतःक्रिया और उस पर आधारित संबंध नकारात्मक भी हो सकते है। जैसे दो राष्ट्रों की युद्धरत सेनाएं लम्बे समय तक अंतःक्रिया में व्यस्त हो सकती है किन्तु क्रिया के नकारात्मक होने के कारण समूहों का निर्माण नही हो सकता।

बोगार्डस ने भी सामाजिक समूह के सन्दर्भ में **मर्टन** के विचारों से सहमति व्यक्त की। उनके अनुसार सामाजिक समूह के विकास हेतु यह आवश्यक है कि व्यक्ति स्वयं उस समूह की सदस्यता के प्रति जागरुक हो तथा साथ ही वह उस समूह के प्रतीकों, नियमों, तथा मानदण्डों के प्रति जागरूकता प्रदर्शित करे।

हार्टन एवं **हंट** ने समूह निर्माण के लिए कहा है कि व्यक्तियों में एक प्रकार की ऐसी भावना मिलती है कि वे अन्तःक्रिया द्वारा समूह का निर्माण करते हैं। इस भावना को समाज की अवधारणा के विश्लेषण के क्रम में **गिडिंग्स** ने सदृश्यता की चेतना कहा है। समानता की इस चेतना को स्वीकार कर **सिमेल** ने भी समान हितों को समूह निर्माण का मुख्य आधार कहा है।

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि समाज में जितने मानवीय समूह दिखाई देते हैं उन सभी को सामाजिक समूह में व्यक्तियों के बीच विचार हित अथवा स्वार्थ की प्रायः समानता होती है, साथ ही इसके सदस्यों के मध्य नियमित अंतःक्रिया तथा सामाजिक संबंध मिलते हैं जिससे सामाजिक समूह के सदस्य परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं।

1.2.5. सामाजिक समूह की विशेषताएं

1. सामाजिक समूह के निर्माण हेतु कम से कम दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना आवाश्यक है । यद्यपी समूह में सदस्यों की अधिकतम संख्या निश्चित नही है। इसको स्पष्ट करने के लिए **सिमेल** ने अकेले व्यक्ति को **एकल** (Monard) दो व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले समूह को **द्विक** (Diard), जैसे पति-पत्नी, माँ-बेटा आदि तथा तीन व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले समूह को **त्रिक** (Triad) कहा है। जैसे - पति-पत्नी तथा बच्चा।
2. समूह के सभी सदस्यों का एक निश्चित उद्देश्य है क्योंकि सामान्य हितों के अभाव में समूह के सभी सदस्य एक-दूसरे के साथ नही रह सकते।
3. समूह के अंतर्गत सदस्यों के मध्य विचारों तथा क्रियाओं आदि का आदान-प्रदान मिलता है क्योंकि जब तक समूह के सदस्यों के मध्य सामाजिक सतःक्रिया नही होती तब तक उनमे स्थायी संबंध विकसित नहीं होते तथा संबंधों के अभाव में उस समग्र को सामाजिक संबंध नहीं कहा जा सकता।

4. समूह के सदस्यों में पारस्परिकता की भावना का होना आवश्यक है क्योंकि तभी वे एक-दूसरे से नियमित अंतःक्रिया करने में सक्षम हो पाते हैं किन्तु इस पारस्परिकता की भावना के विकास हेतु किसी समूह के सदस्यों की जीवन मूल्यों में समानता का होना आवश्यक है।
5. सामाजिक समूह सापेक्षिक रूप से व्यक्तियों के अन्य समग्र की तुलना में अधिक स्थायी होता है क्योंकि किसी समूहों के सदस्यों के मध्य ठोस सामाजिक संबंध मिलते हैं।
6. 'सामाजिक पहचान' समूह की एक अन्य आवश्यक विशेषता है। इस विशेषता को सर्वप्रथम **मर्टन** ने प्रस्तुत किया। उनका मानना है कि यह आवश्यक नही है कि किसी समूह के सभी सदस्य एक-दूसरे को भली-भांति पहचानते हों। जैसे - बड़े सामाजिक संगठन में यह बहुत मुश्किल है। अतः समूह की सदस्यता हेतु महत्वपूर्ण यह है कि समूह के बाहर के लोग किसी व्यक्ति को किस रूप में जानते अथवा पहचानते हैं। प्रत्येक समूह में सदस्यों के व्यवहार के निर्धारण अथवा उसमे एकरूपता लेन हेतु कुछ नियमों और कानूनों की व्यवस्था होती है। जैसे - औपचारिक समूह में अधिकांश नियम-कानून लिखित तथा अनौपचारिक समूहों में अलिखित जो कि प्रथाओं और रीती-रिवाजों के रूप में होते हैं, मिलते हैं।
7. किसी समूह का सदस्य होना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है, अर्थात समूह की सदस्यता ऐच्छिक होती है, जिसमे कोई व्यक्ति अपने हितों को ध्यान में रखकर किसी समूह की सदस्यता स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है। यद्यपी प्राथमिक समूह ऐसे होते हैं। जैसे - परिवार, नातेदारी इत्यादि जिनकी सदस्यता सामान्यतः न तो हम सरलता से प्राप्त कर सकते हैं और न ही छोड़ सकते हैं।
8. प्रत्येक समूह की एक 'सामाजिक संरचना' होती है क्योंकि प्रत्येक समूह की संरचना में कोई न कोई एक निश्चित स्थान होता है उसकी परिस्थिति को सूचित करता है। ये सभी प्रस्थिति अपने भूमिका के माध्यम से एक-दूसरे से जुड़कर समूह की संरचना का निर्माण करती है। चूँकि संरचना विभिन्न प्रस्थितियों के मध्य सम्बन्धों पर आधारित होता है। अतः यह स्वयं में अमूर्त होती है।
9. प्रत्येक समूह में स्थायित्व की प्राप्ति हेतु स्तरीकरण के माध्यम से ही विभिन्न प्रस्थितियों को एक क्रम में नियोजित कर उनके अधिकार तथा कर्तव्यों का निर्धारण संभव हो पाता है जिससे समूह अंतःक्रिया की व्यवस्था विकसित हो पाती है जो कि समूह के स्थायित्व के लिए आवश्यक है।

1.2.6. सामाजिक समूह का वर्गीकरण

विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग आधारों को स्वीकार कर सामाजिक समूहों को अनेक रूपों में वर्गीकृत किया है, जिनमें प्रमुख वर्गीकरण एवं उनके आधार निम्न हैं :

1. **सिमेल :** इन्होनें समूह का वर्गीकरण उसको निर्मित करने वाले सदस्यों की संख्या अथवा उसके आकर के आधार पर प्रस्तुत किया जो कि निम्न है :

2. **मोनार्ड (एकल) :** अकेले व्यक्ति को सिमेल ने '**मोनार्ड**' कहा तथा इसे समूह स्वीकार नही किया क्योंकि समूह निर्माण हेतु दो व्यक्तियों का होना आवश्यक है।
3. **डायार्ड (द्विक) :** दो व्यक्तियों से मिलकर बनने वाले समूह को 'द्विक' कहा तथा इसे समूह का मूल स्वरुप किया। जैसे - पति-पत्नी, माँ-बाप आदि।
4. **ट्रीयार्ड (त्रिक) :** तीन व्यक्तियों से बने समूह को सिमेल ने 'त्रिक' कहा। उन्होंने समूह के इस स्वरुप को सबसे स्थायी माना, क्योंकि तीसरा व्यक्ति दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों को और गहनता प्रदान करता है। जैसे - पति-पत्नी और बच्चा।

2. कूले: इन्होनें आत्मीयता की गहनता तथा समूह की संरचना की प्रकृति को आधार बनाकर उसे ३ भागों में विभाजित किया। यह वर्गीकरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'Social Organisation' में 1909 में प्रस्तुत किया।

i. **आत्मीय युगल समूह (Intimate Pair Group) -** यह सिमेल के दिक् के समान है जिसका निर्माण दो व्यक्तियों से मिलकर होता है। उन्होंने माना है कि ऐसे समूह में आत्मीयता की भावना (Degree of Intimacy) सर्वाधिक होती है। इन्होनें माँ-बेटे के समूह को समाज का मूल स्वरुप स्वीकार किया है।

ii. **प्राथमिक समूह (Primary Group) :** कूले ने अंतःक्रिया पर आधारित स्वविकसित होने वाले अनौपचारिक समूहों को प्राथमिक समूह कहा। इसकी विशेषताओं में उन्होंने सदस्यों के मध्य आमने-सामने के संबंधों, गहरी आत्मीयता, हम की भावना तथा सामान्य हित को माना है। उनका कहना है कि जब दो-चार लोग आमने-सामने के संबंध (face to face relation) के आधार पर स्वाभाविक अंतःक्रिया में भाग लेते हैं तो आत्मीयता के विकसित होने के साथ ये समूह स्वाभाविक रूप से निर्मित हो जाते हैं। उनका कहना है कि प्राथमिक समूह कई अर्थों में प्राथमिक है - पहला तो यह की शिशु जन्म के पश्चात् सर्वप्रथम इन्हीं समूहों में आता है किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि यह समूह समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से उसके व्यक्तित्व निर्माण में बुनियादी योगदान देते है। उन्होंने परिवार, पड़ोस तथा मित्रमण्डली समूह (Pear Group) को प्राथमिक समूह के उदहारण के रूप में स्वीकार किया है।

iii. **आभासी समूह (Quasi Primary Group) :** कूले का कहना है की जब कोई समूह अपनी मूल प्रकृति में प्राथमिक समूह की विशेषताओं को प्रदर्शित करता है, लेकिन साथ ही उसमे कुछ विशेशताएँ द्वितीयक समूह की भी मिलती हैं। जैसे- औपचारिक संरचना एवं निश्चित लक्ष्य इत्यादि तो उसे आभासी प्राथमिक समूह कहते है। जैसे- ब्वायस अकाउंट समूह, कीर्तन मण्डली इत्यादि। यद्यपी द्वितीयक समूह की अवधारणा कूले द्वारा प्रस्तुत नही की गयी किन्तु इस अवधारणा का विकास प्राथमिक समूह की पूरक अवधारणा के रूप में हुआ, जिससे इसे कूले की अवधारणा के साथ स्वीकार किया जा सकता है।

3. समनर: इन्होनें समूह के सदस्यों के संबंधों में सामाजिक दूरी एवं आत्मीयता को आधार बनाकर समूहों को दो भागों में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण उन्होंने अपनी पुस्तक में **"Folkways" 1906** में प्रस्तुत किया।

i. **अन्तः समूह (In Group) :** समनर के अनुसार कोई व्यक्ति जिस भी समूह का सदस्य होता है और जिसके प्रति हम की भावना (We-feeling) प्रदर्शित करता है वे सभी समूह उसके अन्तः समूह होते हैं।**समनर** ने अन्तः समूह की अवधारणा के आधार पर ही 'स्वजतिकेंद्रवाद' (Etheno Centism) की अवधारणा प्रस्तुत की जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने समूह और संस्कृति को श्रेष्ठ तथा दूसरों के समूह और उनकी संस्कृति को हीन स्वीकार करता है। समनर का मानना है कि स्वजाति केन्द्रवाद की भावना ही समूह के एकीकरण तथा विघटन हेतु उत्तरदायी है।

ii. **वाह्य समूह (Outer Group) :** समनर के अनुसार व्यक्ति जब किसी समूह का सदस्य नहीं होता है और वह उस समूह के प्रति वे की भावना का प्रदर्शन करता है तो वह समूह उस व्यक्ति के लिए वाह्य समूह का परिचायक होता है।

4. हर्बर्ट हाईमैन : सन्दर्भ समूह की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम **हर्बर्ट हाईमैन** ने १९४२ में अपने एक लेख **"The Psychology of Status"** में स्कूली बच्चों के व्यवहार प्रतिमानों के विश्लेषण के सन्दर्भ में किया था। उन्होंने अपने अध्ययन में देखा कि निम्न वर्ग से आने वाले बच्चे अपने व्यवहार प्रतिमानों में उच्च वर्ग से आने वाले बच्चों का अनुकरण करते है। इस आधार पर हाईमैन का कहना है कि उच्च वर्ग वाले बच्चों का समूह निम्न वर्ग के बच्चों के लिए सन्दर्भ समूह का काम करता है। इस प्रकार यह अवधारणा इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि कभी-कभी हमारे व्यवहार-प्रतिमान वाह्य समूहों के अनुरूप भी होते है। यद्यपि सैद्धान्तिक तौर पर यह माना जाता है कि हम जिस समूह के सदस्य होते हैं हमारा व्यवहार आम तौर पर उसी समूह के प्रतिमानों के अनुरूप होता है।

1.2.7. प्राथमिक एवं तृतीयक समूह एवं विशेषताएं

प्राथमिक समूह (Primary Group)

प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम कूले ने अपनी पुस्तक **Social Organization 1909** में किया था । उनके अनुसार प्राथमिक समूह से हमारा तात्पर्य उन समूहों से है जिनमें सदस्यों के बीच आमने-सामने के संबंध तथा पारस्परिक सहयोग की विशेषता होती है। **कूले** के अनुसार ऐसे समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते है, लेकिन विशेष रूप से इस अर्थ में कि ये सामाजिक स्वाभाव और आदर्शों के निर्माण में बुनियादी योगदान देते हैं। इस प्रकार कूले ने प्राथमिक समूह की अवधारणा में सदस्यों के मध्य भौतिक निकटता पर आधारित आमने-सामने के संबंधों के साथ गहरे आत्मीय संबंधों पर बल दिया है। इस

रूप में उनकी यह अवधारणा **दुर्खीम** की यांत्रिक एकता तथा **टॉनिज** के जैमिनशाफ्ट से समानता प्रदर्शित करती है।

प्राथमिक समूह के विश्लेषण :

1. **शारीरिक समीपता या भौतिक निकटता**
2. **समूह का लघु आकार**
3. **संबंधों की अवधि**
   - i. **उद्देश्यों की समानता**
   - ii. **संबंध स्वयं साध्य होते हैं**
   - iii. **संबंधों की वैयक्तिक प्रकृति**
   - iv. **संबंधों की समग्रता**
   - v. **संबंधों का स्वत: विकास**
   - vi. **प्राथमिक समूह की नियंत्रण शक्ति**
   - vii. **सार्वभौमिकता**

तृतीयक समूह (Secondary Group)

विभिन्न विचारकों ने कूले के प्राथमिक समूह की अवधारणा के आधार पर तुलनात्मक रूप से **तृ**तीयक समूह को परिभाषित किया है। **डेविस** का कहना है कि द्वितीय समूहों को स्थूल रूप से 'सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत कहकर' परिभाषित किया जा सकता है। **बिरस्टीड** का कहना है कि 'वे सभी समूह **तृ**तीयक हैं जो प्राथमिक नही हैं। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूहों में पाई जाने वाली विशेषताओं के विपरीत प्रकार की विशेषताओं को व्यक्त करने वाले समूह ही **तृ**तीयक समूह हैं। कुछ विचारकों ने अपने परिभाषा में **तृ**तीयक समूह की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जैसे- **आगबर्न निमकाफ** का कहना है कि **तृ**तीयक समूह उन्हें कहते हैं जिनमे प्राप्त अनुभवों में घनिष्ठता का अभाव होता है और आकस्मिक संपर्क ही **तृ**तीयक समूह का सारतत्व है। **लुण्डबर्ग** का कहना है कि **तृ**तीयक समूह वे हैं जिनमे सदस्यों के संबंध अवैयक्तिक हित प्रधान तथा योग्यता पर आधारित होते हैं।

तृतीयक समूह की विशेशताएं :

1. **बड़ा आकार**
2. **अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक संबंध**
3. **उद्देश्यों का विशेषीकरण**

4. प्रतिस्पर्धा का महत्व

5. ऐच्छिक तथा अस्थायी सदस्यता

6. औपचारिक तथा परिवर्तनशील संरचना

7. सापेक्षिक स्थायित्व का अभाव

1.2.8. बोध प्रश्न

Q.1 सोशल ऑर्गनाइजेशन पुस्तक के लेखक कौन हैं ?

Ans.1 चार्ल्स कूले

Q.2 सामाजिक समूह का वर्गीकरण मोनार्ड, डायार् व त्रियार्ड के रूप में किसने किया **?**

Ans.2 जार्ज सिमेल

Q.3 "समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा मनुष्यों की एक संख्या का संकेत करती है जो एक-दूसरे से स्थापित प्रतिमानों के अनुसार अंतर्क्रिया करते हैं" यह परिभाषा किसकी है ?

Ans.3 राबर्ट मर्टन

Q.4 सन्दर्भ समूह की अवधारणा किसके द्वारा प्रतिपादित है ?

Ans4 हर्बर्ट हाईमैन

Q.5 किसी निश्चित स्थान पर एकत्रित लोगों का समूह जिनमें पारस्परिक जागरूकता का अभाव हो को कहते हैं ?

Ans.5 सामाजिक समुच्चय

1.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

- Bierstedt, Robert. (1957). *The Social Order* Newyork: McGraw-Hill Book Co.,
- Davis, Kingsley. (1942). *Human Society*. Macmillan.
- Johnson, Harry. M. (1960). *Sociology: A Systematic Introduction*, New Delhi: Allied Publishers Private Limited.
- Klinberg, O. (1960). *Social Psychology*. New York: Henry Holt and Co.
- Mukharjee, R.K. (1949). *The Social Structure of Values*. London: The Macmillan and Company Ltd.

इकाई-3 समुदाय एवं सामाजिक समूह

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य
1.3.1. समुदाय का अर्थ
1.3.2. समुदाय की परिभाषाएं
1.3.3. समुदाय की विशेषताएं
1.3.4. समुदाय की सैद्धान्तिक अवधारणा
1.3.5. समुदाय के प्रकार
1.3.6. समुदाय व समिति में अंतर
1.3.7. समुदाय एवं संस्था में अंतर
1.3.8. बोधपूर्ण प्रश्नों के उत्तर
1.3.9. कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.3.0. उद्देश्य

इस इकाई में समुदाय शब्द की व्याख्या तथा उसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालने का कार्य संभव होगा जोकि निम्नलिखित बिन्दुओं पर संपन्न किया जायेगा :

- समुदाय शब्द की व्याख्या करना
- समुदाय के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालना
- समुदाय की अवधारणात्मक व्याख्या करना
- समुदाय के वर्गीकरण को प्रस्तुत करना

1.3.1. समुदाय का अर्थ (Meaning of Community)

समुदाय (अवधारणात्मक व्याख्या) (Conceptual Meaning) : सामाजिक जीवन में भागीदार ऐसे लोगों के समूह को हम समुदाय के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हों तथा उनके सदस्यों के मध्य गहरी हम की भावना पाई जाती हो तथा वह अपने आप को उस समूह के प्राथमिक भागीदार के रूप में स्वीकार करते हैं। इस रूप में किसी भी समाज के संचालन हेतु समुदाय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

समुदाय की शाब्दिक व्याख्या (Literal Meaning) : समुदाय शब्द अंग्रेजी भाषा के Community शब्द का ही रूपांतरण है। Community शब्द दो लैटिन शब्दों से मिलकर बना है, जिसमे पहले शब्द Com का अर्थ है "साथ-साथ मिलकर" तथा दूसरे शब्द Munis का अर्थ है "सेवा करना"। इस प्रकार समुदाय का अर्थ है "साथ-साथ मिलकर सेवा करना" इस प्रकार का तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में साथ-साथ रहते हों तथा सामान्य उद्देश्यों की पूर्ती हेतु साथ-साथ निवास करते हुए सामान्यतः अपना संपूर्ण जीवन यहीं व्यतीत करते हैं।

समुदाय की सपष्टता हेतु किसी निश्चित क्षेत्र से सम्बद्धता का होना आवश्यक है। क्योंकि निश्चित क्षेत्र के अभाव में समुदाय सामाजिक कोटि के रूप में परिवर्तित हो पता है। जैसे- ठाकुर परिवार सामाजिक कोटि के उदहारण होंगे जबकि वाराणसी के ठाकुर परिवार समुदाय के उदहारण होंगे। किसी भी समूह के समुदाय होने हेतु तीन तत्वों का होना आवश्यक है :

(i) व्यक्तियों का समूह

(ii) निश्चित भौगोलिक क्षेत्र

(iii)सामुदायिक भावना के अंतर्गत तीन मुख्या तत्व सम्मिलित हैं-

- **a)** हम के भावना की अभिव्यक्ति
- **b)** योगदान अथवा दायित्व निर्वाह की भावना
- **c)** परस्पर निर्भरता की भावना

उपर्युक्त तत्वों के आधार पर समुदाय अपनी एकीकरण की भावना के साथ सामाजिक अभिवृद्धि में सहायक होता है। जिसके कारण मनुष्य अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ती समुहिकता तथा एकीकरण के भाव के साथ करता है। अतः समाज के एकीकृत संचालन हेतु समुदाय एक अनिवार्य संघटक है।

1.3.2. समुदाय की परिभाषाएं (Definitions of Community)

समुदाय की सांघटनिक विशेषताओं तथा उसके प्रकृति के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसकी निम्नलिखित परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं वो निम्न प्रकार है :

1. **बोगार्डस,** "एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें "कुछ अंशों में हम की भावना (Some Degree of Wefelling) पाई जाती है, तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है"। उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर बोगार्डस का यह मत है कि समुदाय के निर्माण सदस्यों में हम की भावना होना अनिवार्य तत्व है"।
2. **मैकाईवर** तथा **पेज,** "समुदाय सामाजिक जीवन का ऐसा क्षेत्र है जिसमे सामाजिक सम्बद्धता (Social Coherence) की कुछ मात्र पाई जाती है"। इस प्रकार समुदाय के निर्माण हेतु एक क्षेत्र तथा सदस्यों के मध्य सामाजिक संपर्क भी आवश्यक है।

3. **आगबर्न** तथा **निमाकाफ**, "एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है"।
4. **जार्ज लुण्डबर्ग,** "एक मानव जनसंख्या जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है और जो सामान्य, अन्योन्याश्रित, जीवन व्यतीत करती है समुदाय कहलाती है।
5. **किंग्सले डेविस,** "समुदाय सबसे छोटा ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसमे सामाजिक जीवन के समस्त पहलु आ सकते है"।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है की समुदाय सामाजिक जीवन का वह संपूर्ण संगठन है जो कि समूह के सदस्यों के हितों की अभिवृद्धि तथा सामाजिक एकीकरण में सहायक होता है। जो एक निश्चित एवं स्थायी क्षेत्र के साथ संदर्भित होकर उसके अन्दर रहने वाले सदस्यों के मध्य गहरी हम की भावना के साथ संचालित सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ती करता है।

1.3.3. समुदाय की विशेषताएँ (Characteristics of Community)

उपरोक्त लिखित परिभाषाओं के आधार पर समुदाय की निम्न विशेषताएं वर्णित की जा सकती हैं;

i. प्रत्येक समुदाय का एक विकास समय के साथ स्वतः होता है अर्थात इसे किसी जानबूझकर किये गये प्रयास के रूप में परिभाषित नही किया जा सकता है अर्थात यह औपचारिक संगठन का परिणाम नही होता है किन्तु इसके कुछ अपवाद भी है, जैसे- मार्निंग सेंटर, रिहायशी औद्योगिक प्रतिष्ठान, मेंटर हेल्प रिसॉर्ट्स इत्यादि।

ii. प्रत्येक समुदाय अपने आप में एक मूर्त संगठन होता है क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन होने के साथ ही निश्चित भौगोलिक क्षेत्र से भी सम्बद्ध होता है।

iii. समुदाय अपने सदस्यों के संपूर्ण यानि सामान्य हितों की पूर्ती हेतु अग्रसर होता है न कि कुछ विशिष्ट हितों की।

iv. प्रत्येक समुदाय अपने लिए कुछ नियमों तथा उपनियमों का निर्माण करता है जिसके माध्यम से वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित कर उसके सामाजिक जीवन को निरंतरता प्रदान करता है।

v. प्रत्येक समुदाय एक निश्चित क्षेत्र में स्थायी रूप से रहता है इसलिए विचारकों ने मैकाईवर के समान जेल को समुदाय मानने से असहमति व्यक्त की है।

vi. समुदाय की सदस्यता ऐच्छिक न होकर अनिवार्य होती है। अर्थात व्यक्ति इसकी सदस्यता जन्म से ही प्राप्त करता है।

vii. प्रत्येक समुदाय का एक विशिष्ट नाम होता है जो इसके सदस्यों में पायी जाने वाली स्वजाति केन्द्रवाद भावना का मुख्या आधार है।

viii. समुदाय अपनी आवश्यकता की पूर्ती के सन्दर्भ में स्वयं के संसाधनों पर निर्भर होता है इसी कारण हम इसे आत्म निर्भर समुदाय कह सकते है।

1.3.4. समुदाय की सैद्धान्तिक अवधारणा (Theoretical Concept of Community)

समुदाय की अवधारणा को समाजशास्त्र में प्रयुक्त करने का श्रेय टानिज को जाता है, जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दो जर्मन शब्दों के माध्यम से सामाजिक संरचना के विश्लेषण के सन्दर्भ में दो आदर्श प्रारूपों को प्रस्तुत किया है - (1) जैमन शाफ्ट (2) जैशल शाफ्ट

i. **जैमन शाफ्ट :** टानीज इसे समाज की प्राथमिक इच्छा के रूप में परिभाषित करते हैं अर्थात इसे प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक इच्छा का परिणाम माना है। अर्थात इसके मध्य सदस्यों का जीवन संबंध घनिष्ठ तथा वैयक्तिक होता है । इसके सदस्यों में परम्पराओं, रुढियों, विश्वासों आदि में समानता मिलती है तथा इस अवस्था में खेत, वन, चारागाह, आदि पर सबका समान स्वामित्वा होता है। अर्थात जैमन शाफ्ट अवधारणा के स्तर पर समुदाय की विशेषताओं को प्रदर्शित करता है।
ii. **जैशल शाफ्ट :** यह प्राकृतिक के स्थान पर तार्किक इच्छा का परिणाम होता है अर्थात इस सामुदायिक विशेषता के अन्दर सदस्यों के मध्य संबंध अवैयक्तिक तथा संविदात्मक होते हैं तथा इसके सदस्यों के मध्य संबंध सतही प्रकार के होते हैं। तथा ये संगठन अपनी प्रकृति में स्थायी न होकर परिवर्तनशील होते हैं।

1.3.5. समुदाय के प्रकार (Types of Community)

जैसे संपूर्ण विश्व में मानव की जनसंख्या तथा उसके क्षेत्र की अवस्थिति में भिन्नता है ठीक उसी प्रकार समुदाय के विभिन्न प्रकार हमे सामाजिक संरचना के अंतर्गत दिखाई देते है यथा ; ग्रामीण समुदाय, नगरीय समुदाय, क़स्बा, क्षेत्र इत्यादि इसका विस्तार दुनिया के संपूर्ण समाजों में पाया जाता है अतः इसनकी व्याख्या अत्यंत ही आवश्यक है।

1. **ग्रामीण समुदाय (Rural Community) :** मानव का प्राकृतिक पर्यावरण एक समान न होकर विभिन्नता के लिए हुए होता है इसी विभिन्नता के कारण मनुष्य के सामाजिक प्रतिमान, आवास की बनावट, जनसंख्या में भी पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। इसी विभिन्नता के आधार पर नगरीय समुदाय तथा ग्रामीण समुदाय में पर्याप्त विभिन्नता दिखाई देता है। ग्रामीण समुदाय सरल जीवन तथा नीति पर चलने वाला समुदाय है जो सदस्यों के मध्य पाये जाने वाले प्राथमिक संबंधों पर आधारित होने के कारण एकीकृत संरचना को निर्मित करता है, जी अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ती हेतु स्वयं पर निर्भर होता है। इसके सदस्यों में गहरी हम की भावना होती है तथा साथ ही परम्पराओं तथा धार्मिक विश्वाशों का उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

   ग्रामीण समुदाय अपनी विशेषताओं के आधार पर आदिम समुदाय से भिन्नता प्रदर्शित करते है जैसे यहाँ नियमित पशुपालन, कृषि में मानवीय शक्ति के साथ ही पशु शक्ति का प्रयोग, स्थायी निवास कृषि कार्य हेतु आधुनिक प्रौद्योगिकी का विकास, स्थानीय स्तर पर हस्तकारी तथा वाणिज्य व्यवस्था का विकास तथा हाटोंएवं बाज़ारों के माध्यम से इसका संपर्क नगरीय व्यवस्था के साथ होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ग्रामीण समुदाय को हम ऐसे समुदाय के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो अपनी स्पष्ट सामाजिक व्यवस्था को जो कि सामान्य सहमती के आधार पर संचालित होती है तथा कुछ प्राथमिक विशेषताओं जैसे - कृषि की प्रधानता, प्रकृति से निकटता, प्राथमिक संबंधों की बहुलता, जनसँख्या में कमी, सामाजिक एकता, गतिशीलता का अभाव एवं ऐसी कुछ अन्य विशेशताएं भी यहाँ की सामाजिक संरचना के संचालन में सहायक होती हैं के माध्यम से संचालित होती हैं।

ग्रामीण समुदाय की परिभाषाएं

(Definitions of Rural Community)

1. **फेयरचाईल्ड**, "ग्रामीण समुदाय पड़ोस की अपेक्षा विकसित क्षेत्र है जिसमे आमने-सामने के संबंध पाए जाते हैं"।
2. **मैटकाफ** : इन्होनें ग्रामीण समुदाय को अखंडित, परमाणुक, अपरिवर्तनीय लघु गणतंत्र अथवा छोटे-छोटे गणराज्य के रूप में परिभाषित किया है।
3. **मेंडल बाम :** "इन्होनें ग्रामीण समुदाय को आधारभूत सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया है"।
4. **इन्साइक्लोपीडिया ऑफ़ सोशल साइंसेज,** "इनके अनुसार ग्राम समुदाय एकाकी परिवारों से सम्बंधित तथा असंबंधित लोगों का समूह है"।
5. **सेन्डरसन** के अनुसार, "एक ग्रामीण समुदाय में स्थानीय क्षेत्र के लोगों की सामाजिक अंतःक्रिया और उनकी संस्थाएं सम्मिलित हैं जिसमे वह खेतों के चरों ओर बिखरी झोपड़ियों तथा पुरवा या ग्रामों में रहती हैं और उनकी सामान्य क्रियाओं का केंद्र है"।
6. **सिम्स** के अनुसार, "समाजशास्त्रियों में ग्रामीण समुदाय को ऐसे बड़े क्षेत्रों में रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसमे समस्त अथवा अधिकतर प्रमुख मानवीय हितों की पूर्ती होती है"।

ग्रामीण समुदाय से सम्बंधित विचारकों के कथन

1. **एम.एन. श्रीनिवास -** "भारतीय गांवों की आत्मनिर्भरता एक मिथक है"।
2. **एम.सी. दूबे -** "नियोजन के प्रयासों ने भारतीय गांवों को पतन के कगार पर खड़ा कर दिया है"।

उपर्युक्त परिभाषाओं तथा कथनों के आधार पर यह स्पष्टित होता है कि ग्रामीण समुदाय एक ऐसा समूह है जो अपनी आवश्यकताओं के सन्दर्भ में आत्मनिर्भर होता है जिससे अपने सदस्यों की मानवीय हितों की पूर्ती कर सके। इन आवश्यकताओं की पूर्ती के सन्दर्भ में यह समुदाय अपनी कुछ प्रमुख संस्थाओं द्वारा संचालित होता है। इस प्रकार्य के संपादन में ग्रामीण समुदाय कुछ विशेषताओं को भी धारित करता है जो निम्नलिखित हैं :

ग्रामीण समुदाय की विशेशताएं (Characteristics of Rural Community)

संपूर्ण विश्व का कोई भी समुदाय हो अपनी निश्चित विशेषताओं के कारण ही वह दूसरे समुदायों अथवा समूहों से भिन्न समझा जाता है। ठीक उसी प्रकार ग्रामीण समुदाय भी अपनी कुछ निश्चित विशेषताओं के माध्यम से अपनी संरचना को निर्मित या बनाये रखने में सक्षम हो पाता है। ग्रामीण समुदाय की कुछ प्रमुख विशेशताएं निम्नलिखित है -

1. **समुदाय का छोटा आकार**
2. **जीवन-यापन की प्रकृति पर निर्भरता**
3. **कम जनसंख्या**
4. **सरल तथा सदा जीवन**
5. **सामुदायिक भावना**
6. **धर्म, प्रथाओं तथा रुढियों का महत्व**
7. **कृषि मुख्य व्यवसाय**
8. **सामाजिक गतिशीलता का अभाव**
9. **जाति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था**
10. **संयुक्त परिवार प्रणाली**
11. **लोकतंत्र का स्वरुप ग्राम पंचायत**
12. **भाग्यवादिता**
13. **सामाजिक एकरूपता**
14. **आत्मनिर्भर समुदाय**
15. **स्त्री-पुरुष के मध्य सामाजिक असमानता**
16. **जनमत का महत्व**
17. **जजमानी व्यवस्था**

नगरीय समुदाय की विशेषताएं (Characteristics of Urban Community)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर नगरीय समुदाय की कुछ प्रमुख विशेषताओं को विद्द्वानों ने वर्गीकृत किया है, जो निम्न प्रकार है -

1. **किंग्सले डेविस** : इन्होने नगरीय समुदाय तथा नगरीय जीवन की निम्न विशेषताएं बतलायीं हैं।
   - **(i) सामाजिक भिन्नता**
   - **(ii) द्वितीयक संघ**
   - **(iii) सामाजिक सहिष्णुता**

(iv) द्वैतीयक नियंत्रण

(v) सामाजिक गतिशीलता

(vi) ऐच्छिक संघ

(vii) व्यक्तिवादिता

(viii) स्थानीय अलगाव

2. नेल्सन एंडरसन के अनुसार नगरीय समुदाय की विशेशताएँ : इन्होनें आधुनिक नगरीय समुदाय की पाँच विशेषताएं बताई है जो निम्न प्रकार है -

(i) मुद्रा अर्थव्यवस्था

(ii) लिखित आलेख

(iii)तकनीकी अविष्कार

(iv)सुदृढ़ प्रशाशन

(v) सांस्कृतिक अविष्कार

1.3.6. समुदाय व समिति में अंतर

समुदाय	**समिति**
1. समुदाय स्वयं में साध्य है जिनमें सामान्य व संपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है।	**1.** समिति आवश्यकता की पूर्ति का एक साधन मात्र है जिसमें व्यतीत नही किया जा सकता।
2. समुदाय का विकास स्वतः होता है।	**2.** समिति का विकास ऐच्छिक क्रिया का परिणाम है।
3. समुदाय में सदस्यों के मध्य संबंध घनिष्ठ तथा प्राथमिक होता है।	**3.** समिति में सदस्यों के मध्य संबंध तार्किक तक उद्देश्य पूर्ण होता है।
4. समुदाय सामान्य उद्देश्यों की पूर्ती करता है।	**4.** समिति विशिष्ट हितों की पूर्ति में सहायक होती है।
5. समुदाय हेतु निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है।	**5.** समिति हेतु निश्चित भू-भाग की आवश्यकता नही होती।

1.3.7. समुदाय एवं संस्था में अंतर

समुदाय	संस्था
1. समुदाय व्यक्तियों द्वारा एकत्रित समूह का संकलन है।	1. संस्था नियमों, कार्य-प्रणाली इत्यादि पर आधारित व्यवस्था है।
2. समुदाय के अंतर्गत कई संस्थाएं समाहित हो सकती है।	2. संस्था स्वयं समुदाय न होकर बल्कि समुदाय के अंतर्गत एक संगठन है।
3. समुदाय एक मूर्त अवधारणा है।	3. संस्था एक अमूर्त अवधारणा है।
4. समुदाय स्वयं साध्य होते है जिसमें सदस्य सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं।	4. जबकि संस्था व्यक्तियों की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है।
5. समुदाय हेतु निश्चित भू-भाग अनिवार्य शर्त है।	5. संस्था हेतु किसी निश्चित भू-भाग की आवश्यकता नही होती।

1.3.8. बोध प्रश्न

Q.1 समुदाय शब्द अंग्रेजी भाषा के कम्युनिटी शब्द का हिंदी रूपांतरण है जिसकी उत्पत्ति हुई है ?

Ans.1 लैटिन भाषा से

Q.2 समुदाय एक सामाजिक समूह है जिसके सदस्यों में हम की भावना पायी जाती है यह परिभाषा किसकी है?

Ans.2 बोगार्डस

Q.3 समुदाय से सम्बद्ध जैमन शाफ्ट व जैशल शाफ्ट की अवधारणा किसके द्वारा प्रतिपादित है?

Ans.3 टोनिज

Q.4 सीमावर्ती समुदाय की अवधारणा किसके द्वारा प्रतिपादित है ?

Ans.4 मैकाइवर

Q.5 भारतीय गांवों की आत्मनिर्भरता एक मिथक है यह कथन किसका है ?

Ans.5 एम.एन. श्रीनिवास

Q.6 नियोजन के प्रयासों ने भारतीय गांवों को पतन के कगार पर ला दिया है यह कथन किसका है ?

Ans.6 एस.सी. दूबे

Q.7 नगर शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के किस शब्द से हुई है ?

Ans.7 सिविटाज

Q.8 प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि शहर अथवा नगर क्या है परन्तु किसी ने भी इसकी संतोषजनक परिभाषा

नहीं दी है यह परिभाषा किसकी है ?

Ans.8 बर्जर

1.3.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

- Bierstedt, Robert. (1957). *The Social Order* Newyork: McGraw-Hill Book Co.,
- Davis, Kingsley. (1942). *Human Society*. Macmillan.
- Johnson, Harry. M. (1960). *Sociology: A Systematic Introduction*, New Delhi: Allied Publishers Private Limited.
- Klinberg, O. (1960). *Social Psychology.* New York: Henry Holt and Co.
- Mukharjee, R.K. (1949). *The Social Structure of Values*. London: The Macmillan and Company Ltd.

इकाई-4 समिति एवं संस्था

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. संस्था: अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.4.3. संस्था की विशेषताएँ
1.4.4. संस्था के प्रकार्य तथा महत्व
1.4.5. समिति: अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.4.6. समिति की विशेषताएँ
1.4.7. संस्था एवं समिति
1.4.8. सारांश
1.4.9. बोध प्रश्न
1.4.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

1.4.0. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिन्दुओं में सक्षम बनाना है –

1. संस्था तथा समिति के अर्थ और परिभाषाओं की विवेचना कर पाने में।
2. संस्था तथा समिति किस प्रकार कार्य करती हैं? साथ ही इनके महत्व को जान पाने में।
3. संस्था तथा समिति के मध्य पायी जाने वाली भिन्नता के बारे में समझ विकसित कर पाने में।

1.4.1. प्रस्तावना

मानव समाज के नियंत्रण में संस्थाओं का बड़ा महत्व है। मनुष्य के व्यवहार ही समाज द्वारा स्वीकृत होकर जनरीतियों व रूढ़ियों के रूप में स्थापित हो जाते हैं तथा इनका स्थायी रूप ही संस्था के नाम से जाना जाता है। संस्थाओं को हम संरचनाओं के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं, जो मानव की आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। ये संरचनाएँ मानव के व्यवहारों को नियंत्रित करने का काम करती हैं तथा साथ ही समाज को नियमित रूप से क्रियाशील रहने में भी मदद करती हैं। परिवार, सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक संस्थाएं, राजनीतिक संस्थाएं आदि समाज की आधारभूत संस्थाएं हैं। संस्थाओं के विपरीत व्यक्तियों के समूह को हम समिति के नाम से जानते हैं। परिवार, विद्यालय, स्कूल आदि समितियों के उदाहरण हैं। समितियों में

प्रतिपादित नियम, कानून, कार्यप्रणालियाँ संस्था हैं। समिति तथा संस्था एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से अंतर्संबंधित हैं तथा दोनों को एक दूसरे के संदर्भ से ठीक तरीके से समझा जा सकता है। समिति व्यक्तियों का समूह ही जो कुछ मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निर्मित किया जाता है तथा इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाई गई कार्यप्रणाली और नियमावली को संस्था का नाम दिया गया है।

1.4.2. संस्था: अर्थ एवं परिभाषाएँ

यह समाजशास्त्र की कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। प्रत्येक मनुष्य की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती हैं तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह कुछ नियमों व कार्यप्रणालियों को निर्मित करता है। ये नियम तथा कार्यप्रणालियाँ समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। इन नियमों तथा कार्यप्रणालियों की सहायता से मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। धीरे-धीरे ये नियम तथा कार्यप्रणालियाँ मानव के लिए अनीवार्य हो जाते हैं तथा समाज के सदस्यों से यह अपेकषा की जाती है कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन्हीं नियमों तथा कार्यप्रणालियों को अपनाएं। जब ये नियम तथा कार्यप्रणाली समाज में पूरी तरह से स्थापित हो जाते हैं तथा इनमें बाध्यता का गुण आ जाता है, तब इन्हें ही संस्था की संज्ञा प्रदान की जाती है। संस्थाएं मानव जीवन के प्रत्येक कदम पर उपस्थित रहती हैं तथा मानव के निर्देशन में सहायक रहती हैं।

संस्था का सर्वप्रथम प्रयोग हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा किया गया तथा वे अपनी पुस्तक 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स' में लिखते हैं कि संस्था वह अंग है जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को करियान्वित किया जाता है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार,

"संस्थाएं समूहिक क्रिया की विशेषता व्यक्त करने वाली कार्यप्रणाली के स्थापित स्वरूप अथवा अवस्था को कहते हैं।"

सदरलैंड तथा अन्य के अनुसार,

समाजशास्त्रीय संभाषण में संस्था उन जनरीतियों तथा रूढ़ियों का समूह है, जो मानवीय सध्या अथवा उद्देश्य की प्राप्ति जआर केन्द्रित रहता है।"

गिलिन तथा गिलिन के शब्दों में,

"सामाजिक संस्था कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रकट करने वाले वे नियम हैं जिनमें काफी स्थायित्व पाया जाता है तथा जिनका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है।"

रॉबर्ट बिरस्टिड के अनुसार,

"संस्था सुव्यवस्थित अथवा संगठिक कार्यप्रणाली को कहते हैं। समाज में कार्य करने के औपचारिक, मान्य, स्थापित उस प्रकार के तरीके को संस्था कहते हैं, जिसे समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त हो।"

आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार,

"कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु संगठिन एवं स्थापित प्रणालियाँ सामाजिक संस्थाएं हैं।"

रॉस लिखते हैं कि

"सामाजिक संस्थाएं सर्वमान्य इच्छा द्वारा सुस्थापित अथवा समाज द्वारा स्वीकृत संगठित मानव सम्बन्धों का समूह है।"

उक्त प्रस्तुत परिभाषाओं के आलोक में सार रूप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संस्थाएं मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में विकसित किए गए नियमों, कार्यप्रणालियों का एक सुव्यवस्थित तथा संगठित रूप है, जो समाज द्वारा स्वीकृत है। दूसरे शब्दों में सामाजिक जीवन को व्यवस्थित तथा संगठित बनाए रखने के लिए निर्मित समाज स्वीकृत नियमों का पुंज ही सामाजिक संस्था है।

1.4.3. संस्था की विशेषताएँ

गिलिन तथा गिलिन ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल सोशिओलाजी' में संस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई है –

1) सांस्कृतिक व्यवस्था में इकाई के रूप में

हैमिल्टन ने संस्था को सामाजिक रीति-रिवाजों का गुच्छा कहा है। मनुष्य के व्यवहार ही समाज द्वारा स्वीकृत होकर जनरीतियों व रूढ़ियों के रूप में स्थापित हो जाते हैं तथा इनका स्थायी रूप ही संस्था के नाम से जाना जाता है। संस्कृति के निर्माण में अनेक विचारों, विश्वासों, कार्यविधियों, परम्पराओं आदि का योगदान होता है तथा ये सब संस्कृति की विभिन्न इकाइयां हैं। इन्हीं इकाइयों की सुव्यवस्थित प्रणाली को संस्था कहा जाता है। इस प्रकार से संस्था को हम सामाजिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं।

2) नियमों तथा कार्य प्रणालियों की व्यवस्था

संस्था व्यक्तियों का समूह न होकर नियमों व कार्यप्रणालियों की एक व्यवस्था है। समाज द्वारा स्वीकृत नियमों और कार्यप्रणालियों की व्यवस्था को ही संस्था के नाम से जाना जाता है। यह व्यवस्था मनुष्य की जीवन विधियों को व्यवस्थित बनाए रखती है।

3) अमूर्त प्रकृति

चूंकि यह नियमों व कार्यप्रणालियों की व्यवस्था है तथा इन्हें हम देख नहीं सकते और ना ही स्पर्श कर सकते हैं। अतः संस्था की प्रकृति अमूर्त प्रकार की होती है। समाज की ही तरह संस्था भी अमूर्त प्रकृति की है।

4) अधिक स्थायित्व

एक लंबे समय के पश्चात संस्थाओं का विकास होता है तथा यह विकास कार्य के विशिष्ट तरीके की उपयोगिता के प्रमाणित हो जाने के पश्चात होता है। यही कारण है कि संस्थाएं काफी लंबे समय तक क्रियाशील रहती हैं। उदाहरण के रूप में हम जाति व्यवस्था को ले सकते हैं। यह व्यवस्था भारतीय समाज में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है तथा यह कई रूपों में मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करती है।

5) स्पष्ट उद्देश्य

प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के प्रयोजन से होता है तथा ये प्रयोजन इतने स्पष्ट रूप में रहते हैं कि इनकी उपस्थिति और उपयोगिता प्रत्यक्षतः परिलक्षित होती है। संस्था द्वारा जब तक मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो जाती है, वह निरंतर उसे पूरा करने में लगी रहती है। मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य तथा संस्था के कार्य दोनों ही पूर्ण रूप से स्पष्ट रहते हैं। प्रत्येक संस्था के एक अथवा अधिक निश्चित उद्देश्य होते हैं तथा इन उद्देश्यों का संबंध मानवीय आवश्यकताओं से रहता है।

6) सांस्कृतिक उपकरण

प्रत्येक संस्था के कुछ भौतिक तथा अभौतिक उपकरण होते हैं तथा ये उपकरण संस्था की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी रहते हैं। विचार, व्यवहार, आदर्श, मूल्य, कार्यप्रणाली आदि संस्था के अभौतिक उपकरण होते हैं तथा मशीन, यंत्र, भवन आदि संस्था के भौतिक उपकरण होते हैं। इन उपकरणों की ही सहायता से संस्था के कार्य सम्पन्न होते हैं। उदाहरण के लिए यदि विवाह संस्था को लें, तो मंडप, कलश, चावल, फूल-माला, मंत्र, संस्कार आदि विवाह के भौतिक तथा अभौतिक उपकरण ही हैं।

7) प्रतीक

प्रत्येक संस्था के अपने पृथक प्रतीक होते हैं तथा यह प्रतिक भौतिक अथवा अभौतिक किसी भी रूप में हो सकता है। उदाहरणस्वरूप, सगाई में प्रतीक स्वरूप अंगूठी भेंट में देना, विवाह के उपरांत प्रतीक स्वरूप सिंदूर लगाना, किसी भी शैक्षिक दस्तावेज़ पर प्रतीक स्वरूप कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय की सील का लगा होना आदि।

8) सुस्पष्ट परंपराएँ

संस्थाओं में परम्पराओं का बड़ा महत्व होता है। इसमें कुछ परंपराएँ लिखित स्वरूप में होती हैं तथा कुछ अलिखित स्वरूप में भी रहती हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परंपरा लिखित स्वरूप में अथवा अलिखित स्वरूप में; उसका महत्व मानवीय व्यवहारों के निर्धारण में मुख्य ही होता है। इन परम्पराओं का पालन करना संभवतः सदस्यों के लिए अनिवार्य होता है तथा इनका पालन न करने पर सदस्यों को सामाजिक रूप से दंडित किए जाने का प्रावधान भी है। ये परंपराएँ सदस्यों के व्यवहारों में अनुरूपता अथवा समानता लाने में भी आवश्यक भूमिका निभाती हैं।

1.4.4. संस्था के प्रकार्य तथा महत्व

संस्थाएं निम्नलिखित महत्वपूर्ण कार्य करती हैं –

1. मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि प्रत्येक संस्था का निर्माण किसी न किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से होता है। यही कारण है कि संस्थाओं को मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले साधन के रूप में भी व्याख्यायित किया जाता है।

2. सदस्यों के कार्य को सरल बनाना

संस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि यह समाज के सदस्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों को सरल बनती है। संस्था मानव व्यवहार के सभी आचरणों को एक सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर यह स्पष्ट करती है कि समाज के अंतर्गत सदस्यों के कार्य क्या होने चाहिए ? अथवा उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की दिशा क्या होनी चाहिए? इस प्रकार संस्था कार्य करने हेतु एक निश्चित प्रणाली अथवा विधि प्रदान कर सदस्यों के लिए कार्यों को करना अपेक्षाकृत सरल बना देती है।

3. व्यवहारों में अनुरूपता

प्रत्येक संस्था की एक निश्चित कार्यप्रणाली तथा नियमावली होती है तथा समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु इन्हीं की सहायता लेते हैं। किसी समाज के सदस्य जब किसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु संस्था की कार्यप्रणाली तथा नियमावली का सहारा लेते हैं तो स्वाभाविक है कि उनके व्यवहारों में समानता होगी। अतः संस्था मानवीय व्यवहारों में अनुरूपता लाती है।

4. मानवीय व्यवहारों पर नियंत्रण

सामाजिक संस्थाएं मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करने का प्रमुख साधन समझी जाती हैं। ये संस्थाएं मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले कार्यों के लिए एक दिशा प्रदान करती हैं, उनके व्यवहार करने के तरीकों को एक प्रारूप प्रदान करती हैं तथा प्रदान किए गए प्रारूप व दिशा के अनुरूप ही सदस्य को कार्य करने का आदेश देती हैं। हमारे समाज में नियंत्रण के प्रमुख साधन के रूप में दो शक्तिशाली संस्थाएं हैं – परिवार तथा जाति व्यवस्था हजारों सालों से मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करने के महत्वपूर्ण साधन के रूप में विद्यमान रही हैं।

5. संस्कृति का वाहक

संस्थाओं का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित करना है। संस्थाओं की सहायता से संस्कृति का संरक्षण होता है तथा संस्कृति के स्थायित्व में भी संस्थाओं की भूमिका उल्लेखनीय होती है। संस्कृति के प्रमुख वाहक के रूप में हम परिवार नामक संस्था को समझ सकते हैं।

6. भूमिका तथा प्रस्थिति का निर्धारण

संस्था समाज के सदस्यों के लिए भूमिका तथा प्रस्थिति का निर्धारण भी करती है। विवाह संस्था द्वारा पुरुष को पति की प्रस्थिति प्रदान की जाती है तथा महिला के लिए पत्नी की प्रस्थिति निर्धारित की जाती है। इसी निर्धारित की गई प्रस्थिति के आधार पर वे अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं।

7. सामाजिक परिवर्तन में सहायक

हालांकि संस्थाएं रूढ़िवादी प्रकृति की होती हैं तथा इनमें परिवर्तन शीघ्र नहीं होते हैं। परंतु परिस्थितियों में परिवर्तन होने के पश्चात सामाजिक संस्थाएं भी परिवर्तित होती हैं। जिस प्रकार से मानवीय आवश्यकताओं परिवर्तित होती हैं, उसी के अनुरूप संस्थाओं का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। यदा-कदा समय के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं को परिवर्तित करने के प्रयत्न भी किए जाते हैं तथा सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएं भी तेज हो जाती हैं।

4.1.5. समिति: अर्थ एवं परिभाषाएँ

मनुष्य के सामाजिक प्राणी है तथा सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ भी हैं। सायं के अस्तित्व को बनाए रखने तथा समुदाय में रहते हुये अपने जीवन को व्यवस्थित तरीके से क्रियाशील रखने के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्ति अत्यंत आवश्यक है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति द्वारा अनेक प्रयत्न किए जाते हैं। अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु अन्य लोगों के साथ मिलकर सहयोगपूर्ण तरीके से किसी संगठन को स्थापित कर कार्य करना ही समिति को पैदा करता है। सरल शब्दों में जब कुछ लोग संयुक्त रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सहयोगपूर्वक किसी संगठन की आधारशिला रखते हैं, तो इस संगठन को ही समिति के नाम से जाना जाता है।

समिति से संबन्धित कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार,

"समिति मनुष्यों का एक समूह है जिसे किसी समन्यौद्देश्य अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित किया गया है।"

आगबर्न एवं निमकाफ के शब्दों में,

"समिति एक ऐसा संगठन है जो प्रायः विशेष स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इसका उद्देश्य अपने सदस्यों की विशिष्ट अथवा सामान्य इच्छाओं की संतुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

बोगार्डस के अनुसार,

"समिति समान्यतः कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु व्यक्तियों का एक साथ मिलकर कार्य करना है।"

गिंसबर्ग लिखते हैं कि

"समिति एक-दूसरे से सम्बद्ध सामाजिक प्राणियों का एक समूह है जो इस सत्य पर आधारित है कि उन्होने किसी निश्चित हित अथवा हितों को पूरा करने के प्रयोजन से एक सामान्य संगठन बनाया है।"

फेयरचाइल्ड के अनुसार,

"समिति एक ऐसा संगठनात्मक समूह है जिसका निर्माण सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है, जिसका अपना आत्मनिर्भर प्रशासकीय ढांचा तथा कार्यकर्ता होते हैं।"

रॉबर्ट बीरस्टीड *लिखते हैं,*

"समिति एक संगठित समूह है वह समूह छोटा अथवा बड़ा हो सकता है क्योंकि समिति संगठित होती है, इसलिए इसमें संरचना व स्थिरता पायी जाती है।"

उक्त लिखित सभी परिभाषाओं के आलोक में यह स्पष्ट होता है कि समिति को एक ऐसे संगठन के रूप में समझा जा सकता है जिसका निर्माण मनुष्यों द्वारा विचारपूर्वक किया जाता है, जिसके कुछ उद्देश्य होते हैं तथा साथ ही इस संगठन की अपनी एक स्वीकृत कार्यकारिणी भी होती है।

4.1.6. समिति की विशेषताएँ

विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषाओं के आधार पर समिति की कुछ प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है –

क) व्यक्तियों का समूह

समिति व्यक्तियों का एक समूह होता है तथा इसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयोजन से किया जाता है। चूंकि व्यक्तियों को देखा तथा स्पर्श किया जा सकता है, अतः समिति एक मूर्त संगठन है।

ख) एक निश्चित संगठन

प्रत्येक समिति का एक निश्चित तथा निर्धारित संगठन रहता है। संगठन के अभाव में किस भी समिति द्वारा अपने उद्देश्यों तक पहुँच पाना दुष्कर रहता है। यदि समिति में संगठन की भावना नहीं है तो उसे मात्र एक भीड़ की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। छात्र समूह, शिक्षक समूह, चिकित्सक समूह, कर्मचारी समूह, विद्यालय आदि समिति के प्रमुख उदाहरण हैं।

ग) विचारपूर्वक स्थापना

समिति एक ऐसा संगठन होता है जिसकी स्थापना मनुष्यों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विचारपूर्वक की जाती है। जब कुछ लोग अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयोजन से सचेतन विचार कर किसी संगठन का निर्माण करते हैं, तो इस प्रकार के संगठन को समिति का नाम दिया जाता है।

घ) निश्चित उद्देश्य

समिति का निर्माण मनुष्यों की आवश्यकताओं अथवा उद्देश्यों को पूरा करने हेतु किया जाता है। मनुष्य द्वारा अपने निजी हितों की पूर्ति हेतु समिति की आधारशिला रखी जाती है। उदाहरणस्वरूप, प्राथमिक शिक्षा की समृद्धि तथा विकास की दृष्टि से प्राथमिक शिक्षा समिति का निर्मित किया जाना। बिना किसी उद्देश्य के व्यक्तियों के समूह को समिति के रूप में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है।

ङ) नियमों पर आधारित

प्रत्येक समिति के अपने कुछ नियम, उपनियम तथा कार्यप्रणालियाँ होती हैं। ये नियम, उपनियम तथा कार्यप्रणालियाँ मनुष्य के व्यवहारों और आचरण को नियमित व नियंत्रित करने के प्रयोजन से सहायक सिद्ध होती हैं। समिति में सदस्यता संबंधी योग्यता, सदस्यता शुल्क, अनुशासन आदि इन्हीं नियमों के ही उदाहरण हैं। किसी भी समिति में नियमों के स्वीकृत हो जाने के पश्चात उनका अनुपालन समस्त सदस्यों के लिए अनिवार्य हो जाता है। समिति के सदस्यों के मध्य के आपसी संबंध भी इन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित व नियोजित होते हैं।

च) एच्छिक सदस्यता

किसी भी समिति में सदस्यता ग्रहण करना अथवा न करना व्यक्ति की इच्छा अथवा अनिच्छा पर निर्भर करता है। व्यक्ति अपने हितों के आधार पर समिति का निर्माण करता है तथा अपनी इच्छा के आधार पर ही किसी समिति का सदस्य बनाता है। साथ ही यदि व्यक्ति चाहे तो किसी भी समिति की सदस्यता से त्यागपत्र दे सकता है।

छ) अस्थायी प्रकृति

समिति का निर्माण सामान्यतः कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है तथा उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात समिति को समाप्त कर दिया जाता है। इस कारण समिति की प्रकृति को अस्थायी माना जाता है। उदाहरणस्वरूप, किसी कारखाने में कार्यकर्ता अपने निजी हितों की पूर्ति हेतु आंदोलन करते हैं तथा एक कर्मचारी सेवा समिति का गठन करते हैं। जैसे ही कर्मचारियों के हितों की पूर्ति हो जाती है, उस कर्मचारी सेवा समिति को भंग कर दिया जाता है।

ज) औपचारिक संबंध

किसी समिति के सदस्यों के मध्य पाये जाने वाले संबंध औपचारिक प्रकार के होते हैं। व्यक्ति अपने निजी उद्देश्यों को पूरा करने हेतु समितियों का नियोजन करता है तथा उद्देश्यों की पूर्ति हेतु व्यक्ति अनेक समितियों का सदस्य रहता है। अनेक समितियों का सदस्य होने के नाते भी वह अन्य सदस्यों के साथ घनिष्ठता स्थापित नहीं कर पाता है। इसके अलावा समितियों का संचालन कुछ नियमों के अनुरूप होता है तथा इस वजह से भी सदस्यों के मध्य औपचारिक संबंध पाये जाते हैं।

झ) साधन के रूप में

समिति का निर्माण किसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया जाता है, अतः यह उद्देश्यों के लिए बनाया जाने वाला संगठन है। अर्थात् व्यक्ति के लिए उद्देश्यों तक पहुँचने के लिए समिति एक साधन के रूप में कार्य करती है, न कि यह स्वयं एक साध्य होती है।

4.1.7. संस्था एवं समिति

समिति तथा संस्था दोनों ही एक दूसरे से अंतर्संबंधित संकल्पनाएँ हैं। दोनों का निर्माण व्यक्ति द्वारा किया जाता है तथा इन दोनों का निरूपण सामाजिक हितों की पूर्ति हेतु किया जाता है। प्रत्येक समिति में संस्थाका होना आवश्यक है, परंतु प्रत्येक संस्था में समिति का अस्तित्व होना जरूरी नहीं है। दोनों में कुछ समानताओं के होने के बावजूद अनेक भिन्नताएँ पायी जाती हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं –

1. समिति एक संगठित समूह है, जबकि संस्था एक संगठित कार्य प्रणाली है। उदाहरणस्वरूप, परिवार (समिति) एक संगठित समूह है तथा इसके अंतर्गत विवाह (संस्था) एक संगठित कार्य प्रणाली है।
2. समिति का निर्माण व्यक्तियों के समूह से होता है, जबकि संस्था अमूर्त होती है क्योंकि यह नियमों, उपनियमों तथा कार्यप्रणालियों की व्यवस्था है तथा इन्हें देख पाना तथा स्पर्श कर पाना संभव नहीं।
3. समिति की स्थापना की जाती है तथा यह भी ज्ञात रहता है कि किस समिति की स्थापना कब तथा किसके द्वारा की गई है?, जबकि संस्था का विकास स्वतः ही धीरे-धीरे होता है तथा साथ ही यह भी बता पाना मुश्किल होता है कि किसी संस्था की उत्पत्ति कब, कैसे और किसके द्वारा हुई है?
4. समिति की स्थापना व्यक्ति द्वारा सचेतन विचारपूर्वक की जाती है, जबकि संस्था का विकास किसी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करता। संस्था के विकास में पर्याप्त समय लगता है।
5. समिति की प्रकृति अस्थायी प्रकार की होती है, जबकि संस्था अपेक्षाकृत स्थायी प्रकृति की होती है।
6. प्रत्येक समिति का अपना एक नाम होता है, जबकि संस्था का अपना एक प्रतीक होता है।
7. समिति व्यक्तिगत कल्याण अथवा हित को महत्व देती है, जबकि संस्था समूहिक कल्याण से संबंधित रहती है।
8. समिति का निर्माण विशिष्ट मानवीय हितों अथवा उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है, जबकि संस्थाएं सामान्यतः मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने में सहयोग देती हैं।
9. मनुष्य किसी समिति का सदस्य हो सकता है, परंतु वह किसी संस्था का सदस्य नहीं हो सकता।
10. समिति के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ औपचारिक नियम होते हैं तथा ये प्रायः अलिखित रूप में रहते हैं, जबकि संस्था के नियम अनौपचारिक प्रकार के होते हैं और ये अलिखित होते हैं।

11. समिति की नियंत्रण शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर होती है, जबकि संस्था की नियंत्रण शक्ति बहुत अधिक होती है। मान्य रीति-नीति के विरुद्ध आचरण को संस्था द्वारा असामाजिक माना जाता है।
12. समिति का हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी नहीं होता है, जबकि संस्था का हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी होता है।
13. किसी समिति का कार्यक्षेत्र उसके सदस्यों तक ही सीमित रहता है, जबकि संस्था के कार्यक्षेत्र की कोई सीमा नहीं होती है। सम्पूर्ण समाज अथवा समूह इसकी सीमा हो सकती है।
14. समिति के नियम एच्छिक प्रकार के होते हैं, जबकि संस्था के नियम एच्छिक नहीं होते हैं।

4.1.8. सारांश

संस्थाओं का निर्माण लोक कल्याण के प्रयोजन से होता है। समाज में संस्थाओं की संख्या जितनी ही अधिक होगी, वह समाज ऊँटना ही अधिक संतुलित, व्यवस्थित व अनुशासित प्रकार का होगा। वहीं समितियों का निर्माण निजी हितों की पूर्ति हेतु किया जाता है। दोनों संयुक्त रूप से मानव तथा समाज के कल्याण हेतु कार्यरत रहते हैं। समिति व्यक्तियों का एक समूह होता है तथा इस समूह के नियम, उपनियम और कार्यप्रणालियाँ ही संस्थाएं हैं।

4.1.9. बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: संस्था की परिभाषा तथा विशेषताओं के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिये।

बोध प्रश्न 2: संस्था के प्रकार्य तथा महत्व पर प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 3: समिति की परिभाषा तथा विशेषताओं के बारे में चर्चा कीजिये।

बोध प्रश्न 4: संस्था एवं समिति पर आलेख लिखिए।

4.1.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

- मैकाइवर, आर.एम. एवं पेज, सी.एच. (1959). *सोसाइटी: एन इन्ट्रोडक्ट्री एनालिसिस*. लंदन: मैकमिलन एंड कंपनी लिमिटेड.
- समनर, डबल्यू.जी. (1979). *फोकवेज*. यूएसए: जिन एंड कंपनी पब्लिशर्स.
- रावत, एच.के. (2017). *सोशिओलॉजी: बेसिक कांसेप्ट*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
- जिंसबर्ट, पी. (2010). (तृतीय संस्करण). *फंडामेंटल्स ऑफ सोशिओलॉजी*. नई दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान.
- यंग, के. (1957). *ए हैंडबूक ऑफ सोशिओलॉजी*. लंदन: रुतलेज एंड कीगल पॉल.

- लुंडबर्ग, जी. (1954). *सोशिओलाजी*. न्यूयॉर्क: हार्पर एंड ब्रदर.
- बीरस्टिड, आर. (1957). द *सोशल ऑर्डर*. न्यूयॉर्क: मैकग्रा हिल पब्लिकेशन्स.
- हेरालुंबास, एम. (1997). *सोशिओलॉजी: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स*. यूके: ऑक्सफोर्ड.
- दूबे, अ. क. (2013). समाज-विज्ञान विश्वकोश. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
- पाण्डेय, एस. एस. (2009). समाजशास्त्र. नई दिल्ली: टाटा मैग्रा हिल.
- पाण्डेय, ग. (2008). भारतीय समाज. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशन.
- शर्मा, जी. एल. (2012). समाजशास्त्र. आगरा: उपकार प्रकाशन.

खंड-2 सामाजिक संरचना

इकाई-1 प्रस्थिति एवं भूमिका

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य

2.1.1. प्रस्तावना

2.1.2. प्रस्थिति: अर्थ एवं व्याख्या

2.1.3. सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार

2.1.4. प्रस्थिति से जुड़ी प्रमुख अवधारणाएँ

2.1.5. भूमिका: अर्थ एवं व्याख्या

2.1.6. भूमिका से जुड़ी प्रमुख अवधारणाएँ

2.1.7. प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

2.1.8. सारांश

2.1.9. बोध प्रश्न

2.1.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.1.0. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिन्दुओं में सक्षम बनाना है –

- प्रस्थिति एवं भूमिका के अर्थ और व्याख्या को समझ पाने में।
- प्रस्थिति तथा भूमिका से संबंधित प्रमुख अवधारणाओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाने में।
- सामाजिक प्रस्थिति के प्रकारों से अवगत हो पाने में।
- प्रस्थिति और भूमिका के मध्य के संबंध को विश्लेषित कर सकने में।

2.1.1. प्रस्तावना

सामाजिक संरचना की संकल्पना को स्पष्ट तरीके से समझ पाने के लिए प्रस्थिति तथा भूमिका के बारे में पर्याप्त संज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। राल्फ लिंटन के लेखों से आरंभ हुये प्रस्थिति तथा भूमिका की संकल्पना को सामाजिक संरचना के विवरण तथा विश्लेषण में मूल माना गया है। विद्वानों द्वारा इसकी व्याख्या अनेक रूपों में की गई है। प्रमुख विचारों को इस इकाई के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

2.1.2. प्रस्थिति: अर्थ एवं व्याख्या

'प्रस्थिति' शब्द जेहन में आते ही किसी व्यक्ति की 'हैसियत' का संदर्भ प्रतीत होने लगता है। प्रतिदिन की जीवनचर्या में हमें यह सुनने को मिलता है कि फलां की प्रस्थिति निम्न है तथा फलां की स्थिति उच्च है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को एक स्थान मिला होता है तथा इसी स्थान को उस व्यक्ति की प्रस्थिति कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, कॉलेज में प्राचार्य की प्रस्थिति, पति की प्रस्थिति, मित्र की प्रस्थिति, छात्र की प्रस्थिति आदि। समान्यतः एक व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियाँ होती हैं, जैसे – एक व्यक्ति कॉलेज में प्रधानाध्यापक है, घर में वह किसी का पति है, किसी का पुत्र है, किसी का पिता है, साथ ही अपनी मित्र मंडली में मित्र की प्रस्थिति पर है।

यहाँ प्रस्थिति की संकल्पना से जुड़े कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को प्रस्तुत किया जा रहा है –

राल्फ लिंटन लिखते हैं कि

"प्रस्थिति किसी व्यक्ति की सामाजिक व्यवस्था में एक स्थिति है।"

के. डेविस के अनुसार,

प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है तथा यह जनरीतियों एवं रूढ़ियों से सम्बद्ध होती है। प्रस्थिति किसी व्यक्ति को स्वतः ही प्राप्त होती है तथा वह इसे परंपरागत तरीके से प्राप्त करता है।"

आगबर्न एवं निमकाफ ने प्रस्थिति की व्याख्या दूसरे व्यक्ति के संबंध में एक व्यक्ति के स्थान के रूप में की है।

इलियट एवं मैरिल के अनुसार,

"लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह अथवा स्वयं के प्रयासों से प्राप्त स्थिति को ही प्रस्थिति कहते हैं।"

प्रस्तुत की गई परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह किसी समाज के अंतर्गत व्यक्ति की स्थिति अथवा हैसियत होती है, जो किसी अन्य व्यक्ति के सापेक्ष रहती है। प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रस्थिति के अनरूप अपने व्यवहार व कार्यप्रणाली को निर्धारित करना पड़ता है।

सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए प्रस्थिति के साथ ही जुड़ी भूमिका की संकल्पना को समझ लेना आवश्यक है। ये दोनों संकल्पनाएँ समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के मध्य एक पुल के रूप में कार्य करती हैं। पारसंस ने क्रिया को समाज व्यवस्था की आधारभूत इकाई के रूप में व्याख्यायित किया है तथा कर्ता प्रस्थिति और भूमिकाओं का एक सम्मिश्रित गुच्छा है। इसे हम एक उदाहरण की सहायता से सरलता से समझ सकते हैं। यदि किसी व्यक्ति की समाज में पिता की प्रस्थिति है। उसके द्वारा की जाने वाली भूमिका का स्पष्टीकरण हम निम्न तीन बिंदुओं के रूप में कर सकते हैं –

- पिता से किसी समाज से अपेक्षित व्यवहार
- व्यक्ति द्वारा पिता के रूप में चेतन अथवा अचेतन प्रकार से किया गया व्यवहार
- व्यक्ति द्वारा किया गया सम्पूर्ण व्यवहार (जो उसके पिता के व्यवहार को प्रभावित करता है)

किंग्सले डेविस ने स्पष्ट किया कि एक व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियाँ हो सकती हैं। कोई व्यक्ति अस्पताल में चिकित्सक हो सकता है, किसी संगठन का सदस्य हो सकता है, एक खिलाड़ी हो सकता है, सामाजिक कार्यकर्ता हो सकता है, अच्छा मार्गदर्शक हो सकता है आदि-आदि। ऐसी दशा में उस व्यक्ति की सामान्य प्रस्थिति का मूल्यांकन इन सभी पदों के अनुरूप की गई भूमिका पर निर्धारित की जाएगी। कोई भी सामाजिक प्रस्थिति स्वतंत्र नहीं रहती है, अपितु वह सापेक्षिक होती है। सामाजिक व्यवस्था में एक ओर जहां एक व्यक्ति के अनेक पद देखने को मिलते हैं, वही दूसरी ओर इन पदों का वितरण बड़ा संगठित रूप में रहता है।

2.1.3. सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार

राल्फ लिंटन द्वारा सामाजिक प्रस्थिति को दो भागों में वर्गीकृत किया गया है –

(क) प्रदत्त प्रस्थिति

कुछ प्रस्थितियाँ सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। ये प्रस्थितियाँ किसी व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हो जाती हैं। किसी परिवार विशेष में जन्म लेने के कारण अथवा परंपरा आदि के कारण व्यक्ति को यह प्रस्थिति प्राप्त होती है। यह प्रस्थिति व्यक्ति को जब प्राप्त होती है, तब संबन्धित व्यक्ति के व्यक्तित्व व व्यवहार-विचार आदि बातों से समाज अनभिज्ञ रहता है। प्रदत्त प्रस्थिति पर किसी व्यक्ति का कोई अंकुश नहीं रहता है। प्रजाति, जाति, लिंग, धर्म, गोत्र, आयु आदि के आधार पर जिस प्रस्थिति की सदस्यता प्राप्त होती है, उसे ही हम प्रदत्त प्रस्थिति के रूप में समझते हैं। आदिम तथा परंपरागत समाजों में इस प्रकार की प्रस्थिति अधिक मात्रा में देखने को मिलती थी तथा आधुनिक समाजों में प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षाकृत कम पायी जाती है।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण हेतु उत्तरदाई प्रमुख कारकों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. जन्म

जन्म के आधार पर सामाजिक प्रस्थिति निर्धारित होती ह। व्यक्ति का जन्म किसी न किसी परिवार, जाति अथवा प्रजाति में होता है तथा इसी जन्म के आधार पर स्वतः ही व्यक्ति को अनेक सामाजिक प्रस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं। किसी उच्च जाति, कुल, वंश अथवा परिवार में जन्म लेने के कारण व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति स्वतः ही निम्न जाति, कुल, वंश अथवा परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति से उच्च रहती है तथा उसी के अनुरूप उसे समाज में सम्मान व प्रतिष्ठा भी प्रदान की जाती है। राजतंत्र में राजा का चुनाव इसी आधार पर होता था।

2. जाति एवं प्रजाति

भारतीय समाज में सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में जाति व्यवस्था की भूमिका सदैव से ही प्रमुख रही है। तथाकथित उच्च जाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) में जन्म लेने वाले शिशु की सामाजिक प्रस्थिति तथाकथित निम्न अथवा अछूत जाति में जन्म लेने वाले शिशु से उच्च रहती है। ठीक इसी प्रकार प्रजाति के संदर्भ में भी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। काले रंग से संबंधित प्रजाति की प्रस्थिति गोरी प्रजाति की तुलना में निम्न सामाजिक प्रस्थिति रहती है।

3. लिंग भेद

संसार की प्रत्येक संस्कृतियों में स्त्री-पुरुष की प्रस्थितियों और भुमिकाओं में पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है। प्रायः स्त्रियों को भावुक, कमजोर, कोमल, धार्मिक तथा एक विवाही माना जाता है। वहीं इसके विपरीत पुरुषों को वीर, साहसी, तार्किक, मजबूत आदि एक रूप में समझा जाता है। ऐसी दशा कमोबेश रूप में सभी पितृसत्तात्मक परिवारों में देखने को मिलती है। पुरुषों की स्थिति सदैव स्त्रियों की स्थिति से उच्च रहती है। हालांकि मातृसत्तात्मक परिवारों में लड़कियों की स्थिति को पुरुषों से उच्च माना जाता है। लिंगभेद के कारण ही स्त्री-पुरुष के सामाजिक कार्यों का निर्धारण होता है तथा साथ ही श्रम विभाजन में भी इसकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। स्त्री-पुरुष के कार्यों में भेद सन्स्क्रितक मूल्य और मान्यताओं के आधार पर होता है तथा इसका नियोजन जन्म से ही समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा कर दिया जाता है। किसी स्त्री द्वारा समाज द्वारा कौन से कार्य निर्धारित किए गए हैं तथा किसी पुरुष द्वारा कौन से कार्य करने चाहिए? स्त्री अथवा पुरुष को ऐसा प्रतीत ही नहीं हो पाता है कि उसे इन लिंगभेद से जुड़ी क्रियाओं को अलग-अलग तरीके से सिखाया जाता है, वह इन क्रियाओं को प्राकृतिक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकृत मानकर चलता है।

हालांकि वर्तमान समय में ये नियम कुछ कमजोर व लचीले हुये हैं। वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष के कार्य क्षेत्रों में समानता लाने के उद्देश्य से लिंगभेद आधारित श्रम विभाजन का विरोध किया जाता है। आंशिक ही सही परंतु लिंगभेद आधारित कार्यों में कमी अवश्य आयी है।

4. आयु भेद

लिंग भेद की तरह ही आयु भेद भी एक स्पष्ट शारीरिक लक्षण हैं, परंतु यह परिवर्तनशील भी है। आयु विभाजन शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि के रूप में किया जा सकता है तथा इसी के अनुरूप व्यक्तियों को अलग-अलग सामाजिक प्रस्थितियाँ भी प्रदान की जाती हैं। अर्थात् आयु के अनुसार व्यक्ति को विशेष प्रस्थिति मिलती है तथा उसी के अनुरूप संबंधित व्यक्ति को समाज में सम्मान व प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। समान्यतः सभी समाजों में अधिक आयु के लोगों अथवा वृद्धों को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान दिया जाता है। पितृसत्तात्मक परिवार का मुखिया भी एक वयोवृद्ध पुरुष ही रहता है। वैदिक काल में निर्धारित किए गए आश्रमों का विभाजन भी आयु के ही आधार पर किया गया था – ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा सन्यास आश्रम।

हालांकि आयु को ही सदैव से प्रस्थिति निर्धारण मीन महत्वपूर्ण नहीं माना गया है, यदा-कदा इसके साथ अन्य सांस्कृतिक आधार भी जुड़े रहते हैं, जैसे आयु के साथ लिंगभेद, कुशलता, क्षमता, नातेदारी ,संपत्ति आदि का अंतर्संबंधित होना।

5. नातेदारी

नातेदारी भी प्रस्थिति के निर्धारण में आवश्यक भूमिका निभाती है। एक व्यक्ति अपने माता-पिता से तथा अन्य रक्तसंबंधियों के साथ जुड़ा रहता है तथा उनसे जुड़े रहने के कारण अनेक प्रस्थितियाँ उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। ये सभी प्रस्थितियाँ नातेदारी के आधार पर ही प्राप्त होता हैं, क्योंकि किसी व्यक्ति द्वारा सचेतन अथवा अचेतन तरीके से अपने माता-पिता, भाई-बहन व अन्य संबंधियों का चयन नहीं किया जाता है। व्यक्ति अपने माता-पिता का धर्म, वर्ग आदि ग्रहण करता है तथा कभी-कभी वह उनके व्यवसाय को भी ग्रहण करता है। माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची, दादा-दादी, मौसी-मौसा, जीजा, साला, साली, सास, स्वसुर आदि प्रकार की प्रस्थितियाँ नातेदारी व्यवस्था द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

आदिम तथा जनजातीय समाजों में नातेदारी आधारित सामाजिक प्रस्थितियों का बहुत महत्व होता है, परंतु वर्तमान सी के आधुनिक समाजों में नातेदारी व्यवस्था अपेक्षाकृत कमजोर हुई है तथा इसका असर नातेदारी आधारित सामाजिक प्रस्थितियों पर भी देखने को मिलता है।

6. शारीरिक विशिष्टताएँ

शारीरिक विशेषताओं के आधार पर भी सामाजिक प्रस्थितियाँ निर्धारित होती हैं। शरीर से सुंदर, बलशाली, गौर वर्ण, स्वस्थ्य व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कुरूप, काले रंग, अपंग, दुर्बल आदि प्रकार के लोगों से उच्च प्रकार की होती है।

(ख) अर्जित प्रस्थिति

सामाजिक प्रस्थिति के दूसरे स्वरूप के रूप में अर्जित प्रस्थिति की बात की जाती है। अर्जित प्रस्थिति से तात्पर्य उन सामाजिक प्रस्थितियों से है जिन्हें किसी व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यता, कुशलता तथा गुणों द्वारा प्राप्त करता है। शिक्षा, व्यवसाय, विवाह, संपत्ति, श्रम विभाजन आदि आधारों का संबंध अर्जित प्रस्थिति से होता है। आधुनिक समाजों में गुण, कुशलता तथा परिश्रम को अधिक महत्व दिया जाता है तथा यही कारण है कि इन समाजों में अर्जित प्रस्थिति की बहुलता देखने को मिलती है।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण हेतु उत्तरदाई प्रमुख कारकों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. शिक्षा

शिक्षित व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति अशिक्षित व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति की तुलना में उच्च मानी जाती है। शिक्षित-अशिक्षित के अलावा शिक्षा के स्तर के आधार पर भी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। उदाहरणस्वरूप, किसी स्नातक व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति किसी हाईस्कूल व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति

से उच्च समझी जाती है। वर्तमान समय में शिक्षा के बढ़ते महात्व के कारण इसे प्रस्थिति के निर्धारण में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है।

2. व्यवसाय

व्यवसाय के आधार पर भी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। जिस किसी व्यवसाय के साथ ऊंचा पद और प्रतिष्ठा जुड़ा हुआ है, उसकी प्रस्थिति स्वाभाविक रूप से किसी निम्न पद व कम प्रतिष्ठा वाले व्यवसाय में लगे हुये व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति से उच्च होगी। उदाहरणस्वरूप, किसी चिकित्सक अथवा इंजीनियर की सामाजिक प्रस्थिति किसी मजदूर अथवा चपरासी की सामाजिक प्रस्थिति से उच्च समझी जाती है।

3. संपत्ति

संपत्ति पर आधिपत्य भी सामाजिक प्रस्थिति को निर्धारित करता है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि मात्र संपत्ति पर आधिपत्य ही प्रस्थिति को निर्धारित नहीं करता है, अपितु यहाँ इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि संपत्ति के संकलन में किस प्रकार के साधनों व तरीकों को अपनाया गया है। क्या वे साधन अथवा तरीके समाज द्वारा स्वीकृत हैं अथवा अस्वीकृत? उदाहरणस्वरूप, किसी ईमानदार पूंजीपति की प्रस्थिति गलत तरीके से अर्जित की गई संपत्ति वाले व्यक्ति की प्रस्थिति से सदैव ऊंची समझी जाती है।

4. विवाह

विवाह के उपरांत व्यक्ति को माता-पिता, पति-पत्नी की प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा इसके अलावा भाभी, बहू, जीजा, साली आदि प्रस्थितियाँ भी इसके पश्चात प्राप्त होती हैं। विवाह के स्वरूप तथा दशाओं के आधार पर भी प्रस्थिति निर्धारित होती है। उदाहरणस्वरूप, विधवा अथवा विधुर, एक विवाह, बहु विवाह आदि के आधार पर भी अलग-अलग सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है।

5. राजनैतिक सत्ता

राजनीतिक सत्ता पर आधिपत्य के आधार पर ही शासक तथा शासित के मध्य भेद किया जाता है। लोकतन्त्र में शासक दल से संबंधित नेताओं की प्रस्थिति को अशासक दल के नेताओं की प्रस्थिति से प्रायः उच्च रहती है। इसके अलावा जिन व्यक्तियों के पास राजनैतिक सत्ता रहती है, उनकी प्रस्थिति राजनैतिक शक्ति न रखने वाले लोगों की तुलना में उच्च रहती है।

6. उपलब्धियाँ

वर्तमान समय में व्यक्ति अपने परिश्रम के आधार पर कुशलता प्राप्त कर अपने सामाजिक प्रस्थिति में बढ़ोत्तरी कर सकते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्रों में व्यक्ति अपने परिश्रम के द्वारा उपलब्धि हासिल कर सकता है तथा यह उपलब्धि व्यक्ति को सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करने में सहायक होती है। उदाहरणस्वरूप, वैज्ञानिक, कलाकार अथवा खिलाड़ी की प्रस्थिति।

2.1.4. प्रस्थिति से जुड़ी प्रमुख अवधारणाएँ

समाजशास्त्र में प्रस्थिति से जुड़ी अनेक संकल्पनाएँ देखने को मिलती हैं, उनमें से कुछ प्रमुख संकल्पनाओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

- किंग्सले डेविस द्वारा इस संबंध में प्रस्थितियों का संगठन प्रस्तुत किया गया है, जिसके तहत उन्होने चार संकल्पनाओं को प्रस्तुत किया है – प्रस्थिति, पदानुषंग (ऑफिस), स्टेशन तथा स्तृत (स्ट्रेटम)। प्रस्थिति से डेविस का तात्पर्य उस पद से है जो सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में पूरे समाज द्वारा न केवल स्वीकृत हो, अपितु वह पद सम्पूर्ण समाज द्वारा समर्पित भी हो, साथ ही उस पद का जन्म स्वतः ही हुआ हो, न कि उस पद को प्रयासपूर्वक बनाया गया हो। इसके बाद पदानुषंग के बारे में डेविस स्पष्ट करते हैं कि इसका संबंध एक ऐसे पद से है जो औपचारिक संगठन के तहत चेतनपूर्वक बनाया गया हो तथा साथ ही यह कुछ विशिष्ट और सीमित नियमों द्वारा किसी समूह विशेष के लिए ही लागू होता हो। इस पद को व्यक्ति द्वारा अर्जित किया जाता हो, न कि उसे जन्म के आधार पर यह पद प्राप्त होता हो।

  स्टेशन के बारे में डेविस बताते हैं कि यह किसी प्रस्थिति कड़ी की अंतिम प्रस्थिति होती है तथा इसके बाद कोई अन्य प्रस्थिति नहीं रहती है। उदाहरणस्वरूप, आई.ए.एस. के बाद डी.एम., उसके बाद उप सचिव, उसके बाद, सचिव तथा अंत में मुख्य सचिव। यहां मुख्य सचिव को ही डेविस ने स्टेशन के रूप में प्रस्तुत किया है। स्तृत के बारे में डेविस बताते हैं कि इस पद से संबंधित लोगों में 'हम की भावना' देखने को मिलती है। समाज में अनेक स्तरीकरण पाये जाते हैं तथा हम प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्तर के आधार पर जानते हैं। भारतीय समाज में अनेक जातियाँ पायी हैं तथा ये सभी जातियाँ अपना अलग-अलग स्तृत निर्मित करती हैं तथा इसके अंतर्गत ही व्यक्तियों की सामाजिक प्रस्थिति भी निर्मित होती रहती है।

- प्रस्थिति संकुल की संकल्पना रॉबर्ट के. मर्टन के साथ जुड़ी हुई है। मर्टन का मानना है कि किसी भी व्यक्ति की मात्र एक प्रस्थिति नहीं होती है, अपितु वह एक साथ अनेक प्रस्थितियों के साथ जुड़ा रहता है। व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही कई प्रस्थितियाँ धारण किए रहता है तथा अपने कर्म अर्थात् परिश्रम व प्रयास द्वारा भी वह अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि हम अर्जित तथा प्रदत्त प्रस्थितियों को एक साथ जोड़ दिया जाय, तो उसे हम प्रस्थिति संकुल के नाम से समझ सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, एक व्यक्ति चिकित्सक, मित्र, खिलाड़ी, पिता-पुत्र, भाई आदि हो सकता है।

- जी.ई. लेंस्की ने प्रस्थिति से जुड़ी दो संकल्पनाएँ प्रस्तुत की – प्रस्थिति अनियमितता तथा मुख्य प्रस्थिति। प्रस्थिति अनियमितता से तात्पर्य किसी व्यक्ति की दो प्रस्थितियों से है, जिसमें एक प्रस्थिति अत्यधिक उच्च होती है, जबकि दूसरी प्रस्थिति अत्यंत निम्न होती है। उदाहरणस्वरूप,

जाती व्यवस्था में किसी निम्न जाति की प्रस्थिति से संबंधित किसी व्यक्ति का वैज्ञानिक जैसी उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर लेना। लेंस्की द्वारा प्रस्तुत दूसरी संकल्पना मुख्य प्रस्थिति का आशय व्यक्ति की उस प्रस्थिति से है जो अन्य प्रस्थितियों से अधिक महत्वपूर्ण होती है तथा जिसे समाज द्वारा अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, महेंद्र सिंह धोनी एक क्रिकेट खिलाड़ी हैं, वे फूटबाल भी खेलते हैं तथा मोटरसाइकिल भी चलाते हैं, इसके अलावा वे पति, पिता, पुत्र, मित्र आदि भी हैं, परंतु उनकी अन्य सभी प्रस्थितियों में क्रिकेट खिलाड़ी को हम मुख्य प्रस्थिति के रूप में मानते करते है।

- अल्बर्ट कोहेन ने प्रस्थिति हताशा की संकल्पना प्रस्तुत की तथा बताया कि समाज में कुछ व्यक्तियों की ऐसी प्रस्थिति रहती है, जिसमें संवर्धन के मार्ग नहीं दिखाई देते हैं। उदाहरणस्वरूप, जाति व्यवस्था में किसी निम्न जाति से संबंधित व्यक्ति में अपनी हीन दशा को लेकर हताशा अथवा विचलन का आना।
- प्रस्थिति झटका की संकल्पना का संबंध एल्विन टाफलर के साथ है तथा टाफलर ने स्पष्ट किया कि यह एक ऐसी अवस्था से संबन्धित प्रस्थिति है जो व्यक्ति को अकसमत प्राप्त हो जाती है तथा व्यक्ति इस प्रस्थिति के लिए तैयार नहीं रहता है। उदाहरणस्वरूप, किसी नवविवाहित का विधवा अथवा विधुर हो जाना।
- रॉबर्ट बीरस्टीड द्वारा दो संकल्पनाओं का प्रतिपादन किया गया – पीड़ाकारी प्रस्थिति तथा ध्रुवीय प्रस्थिति। पीड़ाकारी प्रस्थिति से अभिप्राय उन प्रस्थितियों से है जिन्हें व्यक्ति कभी भी अपनाना नहीं चाहता है। इस प्रकार की प्रस्थिति से व्यक्ति सदैव दुखी अथवा व्यथित होता है। उदाहरणस्वरूप, किसी विधवा/विधुर अथवा शारीरिक रूप से अपंग की प्रस्थिति। बीरस्टीड ने ध्रुवीय प्रस्थिति को दो प्रस्थितियों के युग्म के रूप में परिभाषित किया है तथा ये दोनों प्रस्थितियाँ एक-दूसरे की विरोधाभाषी होती हैं, परंतु एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। उदाहरणस्वरूप, स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, अमीर-गरीब, उच्च-निम्न आदि।

2.1.5. भूमिका: अर्थ एवं अवधारणाएँ

प्रस्थिति से ही जुड़ी हुई एक अवधारणा है, जिसे हम भूमिका के नाम से जानते हैं। किसी भी व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण उसकी प्रस्थिति द्वारा ही होता है। प्रस्थिति के गतिशील पक्ष को ही भूमिका के रूप में व्याख्यायित किया गया है। समाज किसी व्यक्ति को जो भूमिका प्रदान करता है, उसी के अनुरूप उस व्यक्ति को भूमिकाएँ करनी पड़ती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की कुछ भूमिकाएँ होती हैं तथा संबंधित भूमिका के साथ प्रस्थिति स्वतः ही जुड़ जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि समाज द्वारा किसी व्यक्ति को विद्यार्थी की प्रस्थिति दी गई है तो पढ़ाई करना उस व्यक्ति की भूमिका होगी।

भूमिका के संबंध में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं –

आगबर्न एवं निमकाफ के शब्दों में,

"भूमिका किसी समूह में किसी विशेष पद से सम्बद्ध सामाजिक स्तर पर प्रत्याशित तथा स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों का संग्रह है तथा इसमें कर्तव्य और विशेषाधिकार दोनों सम्मिलित रहते हैं।"

डेविस का मत है कि

"भूमिका वह तरीका है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने पद के दायित्वों को वास्तविकता में पूरा करता है।"

लुंडबर्ग के अनुसार,

"सामाजिक भूमिका किसी समूह अथवा प्रस्थिति में व्यक्ति से प्रत्याशित व्यवहार का प्रतिमान है।"

किम्बाल के अनुसार,

"किसी व्यक्ति द्वारा जो कार्य किया जाता है अथवा करवाया जाता है, उसे ही हम भूमिका कहते हैं।"

गिंसबर्ग के शब्दों में,

"प्रस्थिति एक पद होता है जबकि भूमिका उस पद को पूरा करने का प्रत्याशित तरीका है।"

सारजेंट के अनुसार,

"किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ऐसा प्रतिमान अथवा प्रारूप होता है जो उस व्यक्ति को प्रस्थिति विशेष के अनुसार उसके समूह के अन्य लोगों की मांगों और प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।"

प्रस्तुत सभी परिभाषाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि भूमिका एक ऐसा पद ही जिसका संबंध प्रस्थिति के साथ जुड़ा रहता है तथा यह प्रस्थिति के तहत निर्धारित किए गए व्यवाहारों का ही प्रतिमान अथवा प्रारूप होता है। प्रस्थिति तथा भूमिका दोनों को हम एक ही सिक्के के दो पहलुओं के रूप में स्पष्ट कर सकते हैं।

2.1.6. भूमिका से जुड़ी प्रमुख अवधारणाएँ

समाजीकरण के तहत मानव का विकास किया जाता है तथा इसमें व्यक्ति अनेक भूमिकाएँ सीखता है और समाज की प्रत्याशाओं के बारे में भी जानकारी प्राप्त करता है। इन संकल्पनाओं की सहायता से भूमिका को समझने में सरलता होगी। समाजशास्त्र में भूमिका से जुड़ी अनेक संकल्पनाएँ देखने को मिलती हैं, उनमें से कुछ प्रमुख संकल्पनाएँ हैं –

- इस इकाई में प्रस्तुत 'प्रस्थिति संकुल' की अवधारणा से ही संबंधित अवधारणा 'बहुल भूमिका' की है। रॉबर्ट के. मर्टन का संबंध इस संकल्पना से है। प्रस्थिति संकुल के गतिशील पक्ष को बहुल भूमिका कहा जाता है। अर्थात् जिस प्रकार से एक व्यक्ति की कई प्रस्थितियाँ होती हैं तथा स्वाभाविक तौर पर

उन प्रस्थितियों पर कुछ भुमिकाएँ भी निर्धारित रहती हैं। उदाहरणस्वरूप, किसी व्यक्ति की चिकित्सक की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका, किसी संगठन के सदस्य की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका, मित्र की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका, पिता की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका, पति की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका, पुत्र की प्रस्थिति से जुड़ी भूमिका आदि-आदि।

- रॉबर्ट के. मर्टन ने भूमिका संकुल की अवधारणा प्रस्तुत की तथा बताया कि व्यक्ति एक प्रस्थिति से जुड़ी अनेक भूमिकाओं का निर्वहन करता है। उदाहरणस्वरूप, एक व्यक्ति जो शिक्षक है, उसकी अन्य शिक्षकों के साथ भूमिकाएँ, छात्रों के साथ भूमिकाएँ, अकादमिक स्टाफ के साथ भूमिकाएँ आदि।
- जब किसी व्यक्ति की दो भूमिकाएँ परस्पर विरोधाभाषी अपेक्षाओं पर आपस में टकराती हैं तो इसे भूमिका संघर्ष की संज्ञा दी जाती है। यह अवधारणा रॉबर्ट के. मर्टन से संबंधित है। उदाहरणस्वरूप, कोई व्यक्ति यदि शिक्षक है तथा साथ ही वह पिता भी है। अगर पुत्र अपने पिता से अपेक्षा करे कि वह उनके साथ घूमने जाये तथा उसी दिन शिक्षक की कोई अकादमिक मीटिंग भी हो। तब ऐसी दशा में व्यक्ति के लिए भूमिका संघर्ष की स्थिति में आ जाएगा तथा वह भ्रमपूर्ण स्थिति में आ जाएगा कि उसे पिता की भूमिका का निर्वहन करना चाहिए अथवा शिक्षक की?
- प्रत्येक भूमिका के साथ समाज की कुछ अपेक्षाएँ जुड़ी रहती हैं। व्यक्ति जिस प्रकार की भूमिका को धारण करता है, उसी के अनुरूप समाज द्वारा अपेक्षा की जाती है। ये अपेक्षाएँ औपचारिक और अनौपचारिक रूप से व्यक्ति को समाज द्वारा बतायी जाती है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी व्यक्ति की प्रस्थिति पिता की है तो समाज उससे उसी के अनुरूप भूमिका की अपेक्षा करेगा। वह अपने बच्चों के लालन-पालन में ध्यान दे, उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान दे आदि-आदि।
- किसी व्यक्ति को जैसे ही कोई प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा उसके अनुरूप समाज की अपेक्षाओं का भान होता है, वैसे ही व्यक्ति उससे संबंधित भूमिकाओं को ग्रहण करने लगता है। जी.एच. मीड इसे भूमिका ग्रहण का नाम देते हैं। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी व्यक्ति को शिक्षक की प्रस्थिति प्रदान की जाती है, तो उस व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूरी लगन से विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करे। ऐसी दशा में यदि व्यक्ति विद्यार्थियों को पूरी तन्मयता के साथ पढ़ता है, तब इसे भूमिका ग्रहण कहा जाएगा। भूमिका ग्रहण के बाद की संकल्पना के रूप में भूमिका निर्वहन आता है। इसकी संकल्पना भी जी.एच. मीड द्वारा प्रस्तुत की गई है। भूमिका निर्वहन से तात्पर्य प्रदान की गई भूमिका को ग्रहण करने के पश्चात उसी के अनुरूप व्यवहार करने से है।
- जब कोई व्यक्ति समाज द्वारा प्रत्याशित व्यवहार के विपरीत व्यवहार करने लगता है तो इसे इरविंग गोफमैन ने भूमिका दूरी के रूप में व्याख्यायित किया है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी व्यक्ति को

शिक्षक की प्रस्थिति प्रदान की जाती है तथा उस व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूरी लगन से विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करे। ऐसी दशा में यदि व्यक्ति विद्यार्थियों को शिक्षा न देकर स्वयं किसी गैर-शैक्षणिक गतिविधि में संलिप्त रहे, तो इसे भूमिका दूरी कहा जाएगा। इसके अलावा गोफमैन ने भूमिका से जुड़ी एक अन्य संकल्पना को प्रस्तुत किया है – भर्ती की भूमिका। यह भूमिका व्यक्ति स्वयं ग्रहण नहीं करता है, अपितु समाज द्वारा व्यक्ति को यह भूमिका दे दी जाती है। उदाहरणस्वरूप, ग्राम पंचायत का मुखिया, विवाह में बिचौलिये की भूमिका आदि।

- जब किसी व्यक्ति को शारीरिक अथवा मानसिक अस्वस्थता के कारण कोई भूमिका प्रदान कर दी जाती है, जिसके लिए व्यक्ति वास्तव में योग्य न हो इस प्रकार की भूमिका को रुग्ण भूमिका की संज्ञा दी जाती है। रुग्ण भूमिका का विवरण पारसंस तथा एंडरसन ने प्रस्तुत की। उदाहरणस्वरूप, युद्ध में अपने पैर खो देने के कारण किसी सैनिक को कैंटीन का इंचार्ज बना देना।

2.1.7. प्रस्थिति एवं भूमिका में संबंध

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि प्रस्थिति तथा भूमिका दोनों ही अंतर्संबंधित अवधारणाएँ हैं। एक के आधार पर ही दूसरे को परिभाषित किया जा सकता है। समाज में किसी व्यक्ति की स्थिति तथा उसके व्यवहार को समझने के लिए दोनों अवधारणाओं की आवश्यकता रहती है। प्रस्थिति को स्पष्ट तौर से एक समाजशास्त्रीय अवधारणा कहा जा सकता है, जबकि भूमिका का संबंध सामाजिक मनोविज्ञान से अधिक घनिष्ठ प्रतीत होता है। समाज में अनेक प्रकार की भूमिकाएँ देखने को मिलती हैं तथा अनेक प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्ति भी देखने को मिलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता, कुशलता, परिश्रम आदि दौरे व्यक्ति से भिन्न होती है। यही कारण है कि सभी लोग शिक्षक की भूमिका का निर्वहन समान रूप से नहीं कर सकते। प्रत्येक समूह अथवा संगठन के विकास के साथ-साथ उसके पदाधिकार्यों के कार्यों, दायित्वों तथा संबंधित कार्यप्रणालियों में भी बदलाव आ जाते हैं। इसलिए भूमिका को प्रस्थिति के गतिशील पक्ष के रूप में परिभाषित किया जाता है।

प्रस्थिति तथा भूमिका के संबंध सदैव स्थिर नहीं रहते हैं, अपितु ये संबंध निरंतर परिवर्तित होते रहते हैं। बिना प्रस्थिति के कोई भूमिका नहीं होती है तथा बिना भूमिका के कोई प्रस्थिति नहीं रहती है। उदाहरणस्वरूप, किसी विद्यालय में एक व्यक्ति की प्रस्थिति शिक्षक की है तथा उस व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पूरी लगन से विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करे। ऐसी दशा में उस व्यक्ति की भूमिका यह बनती है कि वह विद्यार्थियों को पूरी तन्मयता के साथ पढ़ाये। बिना उसकी प्रस्थिति के भूमिका को परिभाषित नहीं किया जा सकता तथा ठीक यही बात भूमिका के संदर्भ से भी लागू होती है।

हालांकि रॉबर्ट बीरस्टीड ने इस बात की आलेचना की है। उनका कहना है कि कई बार व्यक्ति द्वारा किसी अन्य की प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभानी पड़ती है तथा ना ही उस व्यक्ति से समाज द्वारा ऐसी

भूमिका की अपेक्षा की जाती है और ना ही उस भूमिका को उस व्यक्ति की भूमिका कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, यदि किसी महाविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग का अध्यक्ष कुछ समय के लिए छुट्टी पर चला जाता है तो उसी विभाग का कोई वरिष्ठ शिक्षक उस पद का कार्यभार संभालता है तथा उसी के अनुरूप भूमिका निभाता है, परंतु उस भूमिका के निभाने से वह समाजशास्त्र विभाग का अध्यक्ष नहीं हो जाता।

बहरहाल हम इसके बावजूद इस बात को नकार नहीं सकते हैं कि जहां प्रस्थिति है वहाँ भूमिका अवश्य होगी तथा इसी प्रकार भूमिका के साथ प्रस्थिति अंतर्संबंधित रहेगी।

2.1.8. सारांश

प्रस्थिति तथा भूमिका दोनों एक ही सिक्के के पहलू हैं तथा इनका संबंध प्रत्यक्ष रूप से समाज में व्यक्ति के पद और व्यवहार से है। सामाजिक संदर्भ में प्रस्थिति केदो स्वरूप होते हैं- पहला, वह स्वतः ही व्यक्ति को प्राप्त होती है (प्रदत्त प्रस्थिति) तथा दूसरा, इस प्रकार कि प्रस्थिति को व्यक्ति द्वारा अर्जित किया जाता है (अर्जित प्रस्थिति)। प्रत्येक समाज में प्रस्थिति तथा भूमिका के मध्य तालमेल देखने को मिलता है तथा इनमें तालमेल नहीं होने पर सामाजिक विघटन की दशा के पैदा होने का खतरा रहता है।

2.1.9. बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: प्रस्थिति की संकल्पना को स्पष्ट कीजिये तथा साथ ही प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति के अंतर को भी बतलाइए।

बोध प्रश्न 2: प्रस्थिति से जुड़ी प्रमुख संकल्पनाओं के बारे में चर्चा प्रस्तुत कीजिये।

बोध प्रश्न 3: भूमिका की संकल्पना को स्पष्ट कीजिये तथा यह भी बताइये कि यह प्रस्थिति से किस प्रकार संबंधित है।

बोध प्रश्न 4: भूमिका से जुड़ी प्रमुख संकल्पनाओं के बारे में चर्चा प्रस्तुत कीजिये।

2.1.10. कुछ उपयोगी पुस्तकें

- लिंटन, आर. (1947). *कांसेप्ट ऑफ रोल एंड स्टेटस* (संपादित). रीडिंग इज सोशल साइकोलोजी. न्यूयोर्क: न्यूकोम्ब एंड हार्टले.
- मैकाइवर, आर.एम. एवं पेज, सी.एच. (1959). *सोसाइटी: एन इन्ट्रोडक्ट्री एनालिसिस*. लंदन: मैकमिलन एंड कंपनी लिमिटेड.
- बीरस्टीड, आर. (1957). द *सोशल ऑर्डर*. न्यूयॉर्क: मैकग्रा हिल पब्लिकेशन्स.
- मर्टन, आर.के. (1868). *सोशल थियरी एंड सोशल स्ट्रक्चर*. नई दिल्ली: अमेरिका पब्लिकेशन कंपनी.
- यंग, के. (1957). ए हैंड*बूक ऑफ सोशिओलॉजी*. लंदन: रुतलेज एंड कीगल पॉल.
- डेविस, के. (1961). *ह्यूमन सोसाइटी*. न्यूयॉर्क: द मैकमिलन कंपनी.
- हेरालुंबास, एम. (1997). *सोशिओलॉजी: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स*. यूके: ऑक्सफोर्ड.
- लुंडबर्ग, जी. (1954). *सोशिओलाजी*. न्यूयॉर्क: हार्पर एंड ब्रदर.
- दूबे, अ. क. (2013). समाज-विज्ञान विश्वकोश. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
- पाण्डेय, एस. एस. (2009). समाजशास्त्र. नई दिल्ली: टाटा मैग्रा हिल.

इकाई-2 सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

2.2.1. उद्देश्य

2.2.2. प्रस्तावना

2.2.3. स्तरीकरण का अर्थ

2.2.4. सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा

2.2.5. सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं

.**22.5.1. सामाजिक प्रकृति**

.22.5.2. प्राचीन व्यवस्था

.22.5.3. सार्वभौमिकता

.22.5.4. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है

.22.5.5. चेतन प्रक्रिया

.22.5.6. समाज का विभाजन

.22.5.7. क्षैतिज विभाजन

.22.5.8. श्रेष्ठता एवं अधिनता के संबंध

.22.5.9. मनोवृति का निर्धारण

.22.5.10. असमानता का प्रतीक

2.2.6. सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार

A. प्राणिशास्त्रीय आधार

B. सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

2.2.6.1. प्राणिशास्त्रीय आधार

2.2.6.2. लिंग

2.2.6.3. आयु

2.2.6.4. प्रजाति

2.2.6.5. जन्म

B. सामाजिक सांस्कृतिक आधार

2.2.6.6. संपत्ति

2.2.6.7. व्यवसाय

2.2.6.8. धर्म

2.2.6.9. राजनीतिक शक्ति

2.2.7. सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

2.2.7.1. बंद स्तरीकरण

2.2.7.2. खुला स्तरीकरण

2.2.8. सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण में अंतर

2.2.9. सामाजिक स्तरीकरण का महत्व एवं कार्य

2.2.9.1. आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक

2.2.9.2. प्रस्थिति का निर्धारण

2.2.9.3. कार्य को सरल बनाना

2.2.9.4. सामाजिक एकीकरण में सहायक

2.2.9.5. सामाजिक प्रगति में सहायक

2.2.9.6. सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक

2.2.10. सामाजिक गतिशीलता

2.2.10.1. सामाजिक गतिशीलता का अर्थ

2.2.11. सामाजिक गतिशीलता की विशेषताएं

2.2.11.1. सार्वभौमिकता

2.2.11.2. आधुनिक समाज की विशेषता

2.2.11.3. मानवीय क्रियाकलाप द्वारा निर्मित

2.2.11.4. सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति

2.2.11.5. व्यक्ति, वस्तु एवं मूल्य से संबंधित

2.2.12. सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

2.2.12.1. समतल या क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता

2.2.12.2. उदग्र सामाजिक गतिशीलता

2.2.12.2.1. आरोही या ऊर्ध्वगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता

2.2.12.2.2. अवरोही या अधोगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता

2.2.13. सारांश

2.2.14. प्रश्न सूची

2.2.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

2.2.1. उद्देश्य

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता की इकाई के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी निम्नलिखित में सक्षम हो सकेंगे –

1. सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समझ सकेंगे।
2. सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक असमानता में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।
3. सामाजिक स्तरीकरण के आधार एवं विशेषता को समझ सकेंगे।
4. सामाजिक गतिशीलता के अर्थ एवं परिभाषा को विद्यार्थी समझ सकेंगे।
5. सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न प्रकारों को विद्यार्थी समझ सकेंगे।

2.2.2. प्रस्तावना

समाज में सदैव ही किसी न किसी रूप में सामाजिक स्तरीकरण रहा है। पुरातन काल से आज तक किसी भी ऐसे समाज का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता जहां पर इस बात का जिक्र न हो कि तत्कालीन समाज वर्ग विहीन अथवा स्तरीकृत समाज रहा है। आदमी कालीन समाज में लिंग के आधार पर स्पष्ट वर्ग विभाजन का उल्लेख मिलता है। सनातन परंपरा के ग्रंथ के अनुसार वैदिक कालीन समाज में भी स्तरीकरण का उल्लेख मिलता है। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। यह प्रत्येक समाज में किसी-न-किसी रूप में पाया जाता रहा है। अति प्राचीन समाज हो या सरल समाज, आदिम वन्यजीव समाज हो या आधुनिक समाज, हमें सामाजिक स्तरीकरण का रूप देखने को मिलता है। यहां तक की साम्यवादी समाजों में भी यह प्रक्रिया देखी जा सकती है।

सामाजिक गतिशीलता समाजशास्त्री अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति है। इसे औद्योगिक, नगरीया समाजों की विशेषता कहा जाता है। यातायात एवं संचार के नवीन साधनों ने सामाजिक गतिशीलता को तीव्रता प्रदान की है। लोग गांव से नगरों में, एक राज्य से दूसरे राज्य में, एक देश से दूसरे देश में, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में आते-जाते रहते हैं। यही सामाजिक गतिशीलता है जो आधुनिक समाजों की एक विशेषता बन गई है। इस इकाई के अंतर्गत हम सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता से संबंधित समस्त पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

2.2.3. स्तरीकरण का अर्थ

स्तरीकरण अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Stratification' का हिंदी रूपांतरण है। जिसका तात्पर्य लोगों का विभिन्न वर्गों और स्तरों में विभाजन से है। सामाजिक स्तरीकरण समाज को स्तरीकृत करने की एक व्यवस्था है। सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न वर्गों में विभाजित करने और स्तर निर्माण करने की एक व्यवस्था है। स्तरीकरण शब्द भू-गर्भशास्त्र (Geology) से लिया गया है। भू-गर्भशास्त्र में मिट्टी व

चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा जाता है। समाज में भी उसी प्रकार की अनेक सामाजिक परते पायी जाती हैं। प्रत्येक समाज अपनी जनसंख्या को आय, व्यवसाय, संपत्ति, जाति, धर्म, शिक्षा, प्रजाति एवं पदों के आधार पर निम्न एवं उच्च श्रेणियों में विभाजित करता है। प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और यह सभी परतें जब उच्चता एवं निम्नता के क्रम में रखी जाती हैं तो सामाजिक स्तरीकरण के नाम से जानी जाती हैं।

2.2.4. सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा –

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक स्तरीकरण को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है-

रेमंड मूरे के अनुसार, "स्तरीकरण उच्चतर एवं निम्नतर सामाजिक इकाइयों में समाज का क्षैतिज विभाजन है।"

टालकॉट पारसंस के अनुसार, "किसी समाज व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊंचे और नीचे क्रम-विन्यास में विभाजन ही स्तरीकरण है।"

सदरलैंड और वुडवर्ड के अनुसार, "स्तरीकरण केवल अंतः क्रिया अथवा विभेदीकरण की ही एक प्रक्रिया है, जिसमें कुछ व्यक्तियों को दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च स्थिति प्राप्त होती है।"

आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार, "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्तियों एवं समूह को थोड़े-बहुत स्थाई प्रस्थितियों के उच्चतम और निम्नतम के क्रम में श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण के नाम से जानी जाती है।"

सोरोकिन के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एक जनसंख्या विशेष का उंच-नीच के संस्तरणात्मक अध्यारोपित वर्गों में विभेदीकरण है।"

जिसबर्ट के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणीयों में विभाजन है जो कि आपस में श्रेष्ठता एवं अधीनता के संबंधों द्वारा संबद्ध होते हैं।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जिसके माध्यम से समाज अनेक समूहों व वर्गों में विभाजित हो जाता है। प्रत्येक वर्ग की एक निश्चित स्थिति होती है जो एक-दूसरे की तुलना में उच्च या निम्न होता है, किंतु यह सभी एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।

2.2.5. सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएं –

सामाजिक स्तरीकरण को और अधिक स्पष्ट रूप में जानने के लिए उनकी विशेषताओं की व्याख्या को देखा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण निम्नलिखित विशेषताएं इस प्रकार हैं -

2.2.5.1. सामाजिक प्रकृति - सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है। यह केवल व्यक्तियों तक सीमित नहीं है अपितु संपूर्ण समाज स्तरीकृत व्यवस्था के अंतर्गत ही संचालित होता है। मूल्य एवं व्यवहार के तरीके भी स्तरीकरण का आधार हो सकते हैं। स्तरीकरण के प्रमुख आधार आयु, रंग, लिंग भेद ही नहीं होते

बल्कि सामाजिक व्यवस्था में प्राप्त पद भी स्तरीकरण का आधार हो सकता है। विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं समाज में विभाजन उत्पन्न करती आई हैं।

2.2.5.2. प्राचीन व्यवस्था - सामाजिक स्तरीकरण बहुत ही प्राचीन व्यवस्था है। प्राचीन ग्रंथों के संदर्भ में अध्ययन करें तो कहीं न कहीं वर्ण व्यवस्था के आधार पर स्पष्ट स्तरीकृत व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। अतः इस तथ्य को नहीं नकारा जा सकता की स्तरीकरण पुरातन एवं प्राचीन व्यवस्था है। कार्ल मार्क्स का कथन है कि इतिहास के हर काल में समाज दो वर्गों में विभाजित रहा है।

2.2.5.3. सार्वभौमिकता - आज तक के विभिन्न समाजों का यदि अध्ययन किया जाए, इतिहास में कहीं भी ऐसे समाज का उल्लेख नहीं मिलता है, जहां पर स्तरीकरण की व्यवस्था देखने को ना मिलती हो। योग्यता, शारीरिक बल अथवा अन्य किसी विशेषता के आधार पर समाज के विभिन्न वर्गों में स्तरीकरण देखने को मिलता है। बोटोमोर के अनुसार "समाज का वर्गों अथवा स्तरों में विभाजन प्रतिष्ठा एवं शक्ति का सोपान बनता है, यह रचना का एक सार्वभौमिक तत्व है।" यहां तक वर्ग विहीन समाज का दावा करने वाले साम्यवादी समाजों में भी यह प्रक्रिया पायी जाती है।

सामाजिक स्तरीकरण अत्यंत प्राचीन कालीन व्यवस्था है, अतः विश्व के सभी समाजों में कहीं न कहीं विभिन्न कालों में सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप देखने को मिलते हैं। यह स्वरूप विभिन्न समाजों में अलग-अलग रूप में दिखाई पड़ते हैं। जिस क्षेत्र की सांस्कृतिक व्यवस्था जैसी होगी वहां पर स्तरीकरण का स्वरूप वैसा ही प्रतीत होगा। प्राचीनतम समाज में की बात करें तो यौन भेद के आधार पर ही सामाजिक स्तरीकरण होता था। जहां पर पुरुषों को शक्तिशाली माना जाता था।

2.2.5.4. सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है -

सामाजिक स्तरीकरण कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं होता वरन संपूर्ण समाज में व्याप्त होता है। समाज के सभी लोग समान मूल्यों एवं व्यवहार के समान प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण को आयु, रंग एवं योनी भेद के आधार पर ही नहीं वरन समाज में व्यक्तियों को प्राप्त विभिन्न पदों एवं प्रस्थितियों के आधार पर भी समझा जा सकता है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदंडों को सीखता है और अचेतन रूप में स्तरीकरण को स्वीकार करता है। सामाजिक संस्थाएं जैसे धर्म, शिक्षा, परिवार, विवाह एवं राजनीति आज भी समाज में स्तरीकरण उत्पन्न करते हैं।

2.2.5.5. चेतन प्रक्रिया - सामाजिक स्तरीकरण एक चेतन प्रक्रिया है। इसका निर्माण जागरूक दशा में योजनाबद्ध रूप से किया जाता है। साधारणतया यह कार्य समाज के अभिजन वर्ग द्वारा होता है।

2.2.5.6. समाज का विभाजन - सामाजिक स्तरीकरण समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की व्यवस्था है। इसके द्वारा समाज अनेक उच्च से निम्न वर्गों में बट जाता है तथा प्रत्येक वर्ग की निश्चित स्थिति होती है। साथ ही इस स्थिति से संबंधित कार्य व सुविधाएं भी प्राप्त होती है।

2.2.5.7. क्षैतिज विभाजन - सामाजिक स्तरीकरण के द्वारा समाज का क्षैतिज विभाजन होता है। विभाजन का अभिप्राय उस विभाजन से है, जहां समाज विभिन्न वर्गों में बट जाता है, प्रत्येक वर्ग के लोगों की स्थिति में समानता पाई जाती है। जैसे - जातिगत स्तरीकरण के अंतर्गत एक जाति के लोगों की स्थिति में समानता पाई जाती है।

2.2.5.8. श्रेष्ठता एवं अधिनता के संबंध - सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न अनेक वर्गों में बांटती है। लेकिन यह वर्ग एक दूसरे से अलग नहीं होते, बल्कि संबंधित होते हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। उदाहरणस्वरुप- सामाजिक स्तरीकरण का एक रूप वर्ग स्तरीकरण के अंतर्गत पेशा के आधार पर उच्च एवं निम्न अनेक वर्ग हैं, परंतु वे सामाजिक संबंध से जुड़े होते हैं। इसी तरह अर्थ के आधार पर पूंजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग हैं और वे श्रेष्ठता एवं अधीनता के संबंध से जुड़े होते हैं।

2.2.5.9. मनोवृति का निर्धारण- सामाजिक स्तरीकरण की एक विशेषता यह है कि इसके द्वारा व्यक्ति के मनोवृति का निर्धारण संभव हो पाता है। व्यक्ति जिस जाति, वर्ग व प्रस्थिति समूह का सदस्य होता है, उसके विचार एवं मनोवृति भी उसी के अनुकूल बन जाता है। यही कारण है कि दो भिन्न वर्ग के लोगों की मनोवृति में भिन्नता पाई जाती है।

2.2.5.10. असमानता का प्रतीक - स्तरीकरण समाज में असमानता उत्पन्न करता है। **ट्यूमिन** के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज में असमानता उत्पन्न करता है व्यक्ति का रहन-सहन जीने की जीवनशैली के आधार पर स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं"।

2.2.6. सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार -

यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण का रूप प्रत्येक समाज में देखने को मिलता है। इसलिए इसे सार्वभौमिक प्रक्रिया कहा जाता है। लेकिन, प्रत्येक समाज में इसका आधार एक समान नहीं होता है। इन आधारों को मूल रूप से दो भागों में बाटा जा सकता है-

- **C. प्राणिशास्त्रीय आधार**
- **D. सामाजिक-सांस्कृतिक आधार**

2.2.6.1. प्राणिशास्त्रीय आधार – समाज में स्तरीकरण का निर्धारण जन्म के आधार पर होता रहा है। जिसे प्राणिशास्त्रीय या जैविक आधार कहा जाता है। इसमें व्यक्ति की इच्छा व प्रयास का सवाल ही नहीं उठता। जैसे- पुरुष या स्त्री का होना, गोरा या काला होना, अधिक या कम उम्र का होना आदि। प्राणिशास्त्रीय आधार के अंतर्गत निम्नलिखित आधार आते हैं-

2.2.6.2. लिंग – सामाजिक स्तरीकरण का सबसे प्राचीन आधार लिंग-भेद है। आदिम सामाजिक व्यवस्था में स्त्री और पुरुषों को लिंग के आधार पर स्तरीकृत किया जाता रहा है। अधिकांश समाजों में पुरुषों की स्थिति

स्त्रियों की तुलना में ऊंची मानी जाती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जितनी अधिक सुविधाएं एवं स्वतंत्रता पुरुषों को प्राप्त है, उतनी स्त्रियों को नहीं।

2.2.6.3. आयु – सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा प्राणिशास्त्रीय आधार आयु माना जाता है। मनुष्य को आयु के आधार पर कई अवस्थाओं में विभाजित किया गया है। किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था ये स्तरीकरण का प्रमुख आधार रहा है। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा कम आयु वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आयु वाले व्यक्ति की अधिक होती है। प्राचीन कालीन पंचायती राज व्यवस्था में मुखिया का पद सदैव ही वयोवृद्ध व्यक्ति को प्रदान किया जाता था। अधिकांश समाजों में अधिक आयु के व्यक्तियों को अधिक सम्मान, आदर-भाव एवं विशेष सुविधाएं प्रदान की जाती है।

2.2.6.4. प्रजाति - प्रजातीय भिन्नता के आधार पर समाज में ऊंच-नीच का स्तरीकरण देखा जाता रहा है। शारीरिक विशेषताएं भी स्तरीकरण का प्रमुख आधार रही है। अफ्रीका और गोरी प्रजाति उन्हें श्रेष्ठ माना जाता है और विशेषाधिकार प्राप्त होता है, जबकि जो नीग्रो प्रजाति अथवा काले दूसरे दर्जे की नागरिकता प्राप्त होती है। ऐसी मान्यता है कि प्रजातियों में श्रेष्ठ स्वेत प्रजाति (काकेशियन) है क्योंकि इसका रंग सफ़ेद, रक्त उच्च स्तर का, उच्च मानसिक योग्यता एवं सभ्यता के प्रसारक हैं। इसके बाद क्रमश: योग्यता के अनुसार पीत प्रजाति (मंगोलायड) एवं सबसे नीचे श्याम प्रजाति (निग्रोयाड) है।

2.2.6.5. जन्म- जनवरी सामाजिक स्तरीकरण उत्पन्न करता है कुल ऊंचे वंश अथवा ऊंची जातियों में जन्म लेने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा अन्य वंश में जन्म लेने वालों की प्रतिष्ठा से निम्न यानी की मानी जाती भारत की सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में देखा जाए तो जो कि यहां पर समाज जाति के आधार पर शुरू से ही 4 जातियों में विभाजित रहा है जिसमें ब्राह्मणों को मनु की उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा होती थी और वह जो कि निम्न सामाजिक प्रतिष्ठा होती थी या ब्राह्मण कुल में जन्म लेगा उसकी समय प्रतिष्ठा उठोगी तो स्तरीकृत व्यवस्था में उसका पद ऊंचा माना जाएगा इस आधार पर जन्म को भी सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख आधार माना गया है और जन सामाजिक स्तरीकरण का उत्पन्न करता है

B. सामाजिक सांस्कृतिक आधार –

सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण समाज एवं उसकी संस्कृति के आधार पर भी होता है जिसे सामाजिक-सांस्कृतिक आधार कहा जाता है। इसके अंतर्गत निम्नलिखित आधार हैं-

2.2.6.6. संपत्ति - संपत्ति के आधार पर भीसमाज में स्तरीकरण किया जाता है। आधुनिक समाजों में ही नहीं वरन आदिम समाजों में भी संपत्ति के आधार पर ऊंच-नीच का भेदभाव पाया जाता है। समाज में वह लोग जो ऊंचे माने जाते हैं जिनके पास अधिक संपत्ति होती है। सभी प्रकार की सीता एवं विलासिता एवं सुख सुविधाओं की वस्तुएं खरीदने की क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत गरीब तथा संपत्ति हीन की स्थिति निम्न होती है। संपत्ति के घटने एवं बढ़ने के साथ 7 समाज में व्यक्ति का स्तर घटता एवं बढ़ता जाता है।

2.2.6.7. व्यवसाय - व्यवसाय भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार है। समाज में व्यवसाय की उच्चता एवं निम्न का के आधार पर उससे जुड़े लोगों की स्थिति जय होती है। जैसे समाज में कुछ व्यवसाय को ऊंचा एवं प्रतिष्ठित माना जाता है। प्रशासक, डॉक्टर, अध्यापक, आदि इसी श्रेणी में आते हैं। फिर दूसरी तरफ कुछ व्यवसाय को निम्न माना जाता है, जैसे- शराब का काम, जूता बनाने का काम, मांस बेचने का काम आदि। इस प्रकार जो लोग प्रशासक, डॉक्टर व शिक्षण से जुड़े हैं की स्थिति ऊंची होती है, फिर अन्य लोगों की स्थिति होती है।

2.2.6.8. धर्म - धर्म-प्रधान समाजों में स्तरीकरण उत्पन्न करता है। जो लोग धार्मिक कर्मकांड संलग्न होते हैं, धार्मिक उपदेश देते हैं एवं धर्म के अध्ययन में रत रहते हैं, उन्हें सामान्य लोगों से ऊंचा माना जाता है। भारत में पंडे पुजारी, धार्मिक गुरुओं, साधु-संतों एवं ब्राह्मणों की स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से संबंधित होने के कारण ही ऊंची रही है। वर्तमान में धर्म के महत्व के घटने के साथ-साथ कर निर्धारण में इसका प्रभाव भी कमजोर होता जा रहा है।

2.2.6.9. राजनीतिक शक्ति - सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार राजनीति कहा जाता है। जिसके हाथ में शासन की बागडोर होती है उनकी स्थिति ऊंची होती है। शासन व्यवस्था के अंतर्गत राजकीय सत्ता के आधार पर ऊंच-नीच का स्तरीकरण देखने को मिलता है। उदाहरण स्वरुप भारत में शासन व्यवस्थाके अंतर्गत सबसे ऊंचा स्थान राष्ट्रपति को प्राप्त है फिर उसके बाद क्रमशः उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, उप प्रधानमंत्री, कैबिनेट स्तर के मंत्री व राज्य मंत्री आदि आते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण के अनेक आधार हैं।

2.2.7. सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप

यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक व्यवस्था है। परंतु इसका स्वरूप प्रत्येक समाज में एक समान नहीं है। सामाजिक मान्यता के अनुसार उस में भिन्नता देखी जा सकती है। लेकिन सामाजिक स्तरीकरण के रूपों को मोटे तौर पर दो स्वरूपों के अंतर्गत सम्मिलित किया जाता है। यह निम्न इस प्रकार हैं--

2.2.7.1. बंद स्तरीकरण (Closed Stratification) - बंद स्तरीकरण वह व्यवस्था है जिस में व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है। साथ ही इसमें किसी प्रकार की गतिशीलता नहीं पाई जाती है। इस व्यवस्था के अनुसार जन्म से व्यक्ति के कार्य, हैसियत एवं सुविधा और असुविधा का निर्धारण हो जाता है। इस प्रकार के स्तरीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण जाति व्यवस्था है। व्यक्ति की जाति का निर्धारण जन्म से होता है। लेकिन एक जाति की हैसियत एवं स्थिति दूसरी जाति की तुलना में ऊंची या नीची होती है। जैसे ब्राम्हण की स्थिति पर है शूद्र की सबसे नीचे है। इन दो छोरों के बीच अनेक जातियों एवं जातियां हैं। फिर इनकी स्थिति में परिवर्तन संभव नहीं है। इसलिए जाति को बंद वर्ग के रूप में पोस्ट किया जाता है। बंद स्तरीकरण को जातिगत स्तरीकरण के नाम से जाना जाता है।

2.2.7.2. खुला स्तरीकरण (Open Stratification) - खुला स्तरीकरण वह स्तरीकरण है जिस में व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण उनकी योग्यता, क्षमता कार्यकुशलता के आधार पर होता है। गतिशीलता ऐसे स्तरीकरण प्रमुख विशेषता है। इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति अपने प्रयत्न के द्वारा ऊंचे या निम्न स्थिति प्राप्त कर सकता है। साथ ही एक बार जो स्थिति प्राप्त होगी, आवश्यक नहीं कि वह स्थिति बनी ही रहे। उसमें परिवर्तन संभव है। ऐसे स्तरीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण वर्ग व्यवस्था है। वर्ग का आधार कर्म होता है। कर्म से व्यक्ति एक उद्योगपति, मजदूर, प्राध्यापक एवं छात्र हो सकता है। इसी के अनुसार व्यक्ति का वर्ग निर्धारित होता है। साथ ही वर्ग खुला समूह है। व्यक्ति अपने वर्ग की सदस्यता बदल सकता है। जन्म के साथ व्यक्ति को अपने परिवार की वर्ग स्थिति प्राप्त होती है । लेकिन अपनी योग्यता व क्षमता के आधार पर अपनी हैसियत में वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार वर्ग व्यवस्था के अंतर्गत उच्च समूह से निम्न समूह, निम्न से उच्च समूह तक पहुंचना संभव है। लिए कुछ लोग खुला स्तरीकरण को वर्ग गज स्तरीकरण भी कहते हैं।

2.2.8. सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण में अंतर

सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण दोनों ही समाज को विभिन्न समूहों में विभाजित करने की प्रक्रिया है। वे एक दूसरे की पूरक होते हुए भी परस्पर विभिन्नता लिए हुए हैं। इन दोनों में निम्नलिखित अंतर इस प्रकार हैं -

2.2.8.1. सामाजिक स्तरीकरण का उद्देश्य कुछ विशेष परिस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों को अधिक अधिकार, सुविधाएं एवं सुरक्षा प्रदान करना है। इसलिए यह एक जागरूक एवं जानबूझकर अपनाई जाने वाली प्रक्रिया है। दूसरी ओर विभेदीकरण एक स्वतः एवं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होंने वाली प्रक्रिया है। इसका विकास जानबूझकर योजनाबद्ध तरीके से नहीं किया जाता है ।

2.2.8.2. सामाजिक विभेदीकरण में तो केवल व्यक्तियों एवं समूहों के बीच भिन्नता ज्ञात होती है स्तरीकरण से भिन्नता के साथ-साथ उच्चता, निम्रता, विशेषाधिकार, सुविधाएं, एवं अधीनता का ज्ञान भी होत है।

2.2.8.3. सामाजिक विभेदीकरण के लिए समूहों का स्थाई होना आवश्यक नहीं जबकि स्तरीकरण में चिता और निम्रता के निर्धारण के लिए थाई समूहों का होना आवश्यक है।

2.2.8.4. सामाजिक विभेदीकरण स्पष्ट आधारों पर किया जाता है (जैसे, आयु एवं लिंग भेद) अतः यह एक सरल प्रक्रिया है। दूसरी ओर स्तरीकरण का आधार पक्षपात की भावना एवं सामाजिक प्रतिष्ठा है। जिन्हें ज्ञात करना सरल नहीं है, आता है यह एक जटिल प्रक्रिया है।

2.2.8.5. ओल्सन का मत है कि स्तरीकरण एक व्यक्ति प्रक्रिया है जबकि विभेदीकरण अव्यक्ति। स्तरीकरण में व्यक्ति दूसरे से प्रतिस्पर्धा, विरोध एवं संघर्ष करते हैं जबकि विभेदीकरण में व्यक्तियों में परस्पर भिन्नता होते हुए भी विरोध एवं संघर्ष नहीं पाया जाता है। उदाहरण के रूप में स्त्रियां पुरुषों से इस कारण विरोध प्रकट नहीं करती कि वह स्त्रियां है तथा बालक, युवा एवं वृद्ध लोगों से इसलिए रोष प्रकट करते हैं कि वह बालक हैं।

2.2.8.6. सामाजिक स्तरीकरण का संबंध उपयोगिता से है, इसके द्वारा योग्य व्यक्तियों को उच्च पद एवं अधिक सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। जबकि विभेदीकरण उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जाता है।

2.2.8.7. स्तरीकरण की तुलना में विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिक प्राचीन है। पहले विभेदीकरण अस्तित्व में आया और उसके बाद ही स्तरीकरण प्रारंभ हुआ।

सामाजिक स्तरीकरण एवं विभेदीकरण को हम चित्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं:

2.2.9. सामाजिक स्तरीकरण का महत्व एवं कार्य

सामाजिक स्तरीकरण ऊंच-नीच स्थिति समूहों में बांटने की एक व्यवस्था है। इसे ऊपरी तौर पर देखने से प्रतीत होता है कि इस व्यवस्था के द्वारा समाज विभिन्न स्तरों में बैठ जाता है और उनमें ऊंच-नीच की भावना जागृत होती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि इस व्यवस्था के द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्यों का होता है जो उसके महत्व को दर्शाता भी है। अतः सामाजिक स्तरीकरण के महत्त्व को निम्नलिखित रुप में देखा जा सकता है -

2.2.9.1. आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक - व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएं होती हैं। कोई भी व्यक्ति अपनी आवश्यकता ओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों के कार्यों का विभाजन होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निश्चित कार्य को कुशलता से करके लोगों की आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होता है।

2.2.9.2. प्रस्थिति का निर्धारण - सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्व यह भी है कि के द्वारा व्यक्तियों को समाज में उचित स्थान मिलता है जिसे उस व्यक्ति की प्रस्थिति भी कही जाती है। समाज में हर एक व्यक्ति की योग्यता ता कार्यकुशलता समान नहीं होती। एक स्वस्थ समाज के लिए अवश्य के है कि की योग्यता के अनुसार परिस्थिति प्राप्त हो। इस आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक स्तरीकरण द्वारा होती है।

2.2.9.3. कार्य को सरल बनाना - सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की योग्यता का निर्धारण हो जाता है। जैसे जाति व्यवस्था के द्वारा एक खास जाति को खास योग्यता व कार्य प्राप्त जिसे उसे पूरा करना होता है। उसी तरह वर्ग व्यवस्था के अंतर्गत एक खास वर्ग की खास योग्यता कार्यशैली होती है जिसे उसे पूरा करना होता है। इस तरह सामाजिक स्तरीकरण के माध्यम से व्यक्ति को जानकारी मिल जाती है कि कौन सा कार्य करना है। इससे कार्यों में सरलता होती है।

2.2.9.4. सामाजिक एकीकरण में सहायक - अजीत स्तरीकरण की व्यवस्था क्यों तथा समूह को विभिन्न वर्गों में बांट देती है। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के कार्य निश्चित होते हैं। एक व्यक्ति अपने कार्यों को पूरा कर अन्य कार्यों के संदर्भ में दूसरे पर निर्भर होता है। क्योंकि एक व्यक्ति की आवश्यकताएं केवल उसी के द्वारा पूरी नहीं हो सकती। इससे व्यक्तियों व समूहों में आपस में पारस्परिक निर्भरता बनी रहती है। यह निर्भरता सामाजिक एकीकरण में सहायक होता है।

2.2.9.5. सामाजिक प्रगति में सहायक- सामाजिक स्तरीकरण प्रगति में सहायक होता है। व्यवस्था का आधार चाहे जन्म हो (जाति व्यवस्था) या योग्यता (वर्ग व्यवस्था) दोनों ही व्यक्ति में अपने ढंग से सामाजिक मान्यता के अनुसार कार्य करने की प्रेरणा देता है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत आरती धर्म की बात कही जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार, व्यक्ति के पिछले जन्म के कार्यों के आधार पर इस जन्म के कर्म निर्धारित हुए हैं, अतः उनका पालन अनिवार्य है। फलस्वरूप व्यक्ति स्वेच्छा से अपने कर्म को निभाता है। फिर वर्ग व्यवस्था में अधिक से अधिक योग्यता बढ़ाने का प्रयास करता है ताकि वह उस स्थिति को प्राप्त कर सके। यह दोनों ही स्थितियां सामाजिक प्रगति में सहायक होती हैं।

2.2.9.6. सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में सहायक - सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्व यह है कि वह समाज में व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होता है। इसके द्वारा जन्म व योग्यता के आधार पर मुझको विभिन्न वर्गों में बांट दिया जाता है तथा प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के व्यवहार व ढंग निश्चित होते हैं। साथ ही ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है व्यक्ति अपने निश्चित कार्यशैली को अपनाएं। इससे सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक स्तरीकरण व्यक्ति व समूह दोनों ही स्तर पर अपने महत्व को दर्शाता है।

2.2.10. सामाजिक गतिशीलता

2.2.10.1. सामाजिक गतिशीलता का अर्थ -

सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य किसी व्यक्ति या समूह की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन से है। यह परिवर्तन ऊपर की ओर ऊपर से नीचे की ओर, दोनों ही रूपों में होता है। बेरोजगार युवक का नौकरी मिलना, गांव से नगर में आना, धनी व्यक्ति का निर्धन बन जाना, एक किसान का नेता बनना आदि सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण है।

पी.ए. सोरोकिन के अनुसार, " सामाजिक गतिशीलता से मेरा तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा सामाजिक वस्तु अथवा मूल्य मानव क्रियाकलाप द्वारा बनाईया अंतरित चीज में टी से सामाजिक स्थिति होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।

पी.बी. हॉर्टन एवं सी.एल. हंट के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य ऊंचे या निम्न सामाजिक परिस्थितियों में गमन करना है"

ई.एस. बोगार्डस के अनुसार**,** "सामाजिक पद में कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है"।

पीटर के अनुसार," समाज के सदस्यों के सामाजिक जीवन में होने वाली स्थिति, पद पद, पेशा और निवास स्थान संबंधी परिवर्तनों को सामाजिक गतिशीलता कहते हैं"।

इस प्रकार उपरोक्त वार्डन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक गतिशीलता परिवर्तन की ही एक अभिव्यक्ति है। इसका संबंध व्यक्ति या समूह या मूल्य में एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तन से है। यह परिवर्तन ऊपर की ओर या नीचे की ओर समानांतर स्थिति में होता है। उदाहरण स्वरुप एक व्यक्ति का निम्न पद से पद पर जाना उच्च पद से निम्न पद की ओर आना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबादला होना आदि सामाजिक गतिशीलता है।

2.2.11. सामाजिक गतिशीलता की विशेषताएं

गतिशीलता की निम्नलिखित विशेषताएं इस प्रकार हैं -

2.2.11.1. सार्वभौमिकता- सामाजिक गतिशीलता प्रत्येक समाज की विशेषता रही है। फर्क केवल इतना है कि परंपरागत समाजों में इसकी गति धीमी होती है, जबकि आधुनिक समाज में इसकी गति तेज होती है। धीमी गति व तेज गति होने का भी कारण है। परंपरागत समाजों में विज्ञान व प्रद्योगिकी का विकास न होने के कारण समाज धर्म व परंपरा से अधिक जुड़ा होता है, इसलिए ऐसे समाजों में सामाजिक गतिशीलता की गति धीमी होती है। आधुनिक समाजों में विज्ञान व प्रद्योगिकी का विकास व महत्व अधिक होता है, इसलिए यहां सामाजिक गतिशीलता की गति तेज होती है।

2.2.11.2. आधुनिक समाज की विशेषता - सामाजिक गतिशीलता को आधुनिक समाजों की विशेषता कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्राचीन या परंपरागत समाजों में यह नहीं पाया जाता। इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक समाज में विज्ञान व प्रद्योगिकी का महत्व होने के कारण व्यक्तिगत गुण, सामाजिक अवसर, स्पर्धा आदि का महत्व अधिक होता है। व्यक्ति अपनी सफलताओ व सुविधा के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक पद से दूसरे पद पर, एक पेसे से दूसरे पेसे पर जाता है। यही आधुनिक समाजों की विशेषता सामाजिक गतिशीलता है।

2.2.11.3. मानवीय क्रियाकलाप द्वारा निर्मित - इस विशेषता का उल्लेख सोरोकिन ने किया है। आपके शब्दों में "मानव क्रियाकलाप द्वारा बनाई या रूपांतरित किसी भी चीज में एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक गतिशीलता कहते हैं"। इस तरह एक इंटरमीडिएट विद्यार्थी का स्नातक होना सामाजिक गतिशीलता है।

2.2.11.4. सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति- जब सामाजिक संरचना सामाजिक संबंधों के प्रतिमान में कोई हेर फेर होता है, तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है, परंतु जब सामाजिक संरचना की किसी इकाई की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, तो उसे सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन को दर्शाता है।

2.2.11.5. व्यक्ति, वस्तु एवं मूल्य से संबंधित - एक व्यक्ति की स्थिति में बदलाव गतिशीलता है। जैसे- एक साधारण खिलाड़ी का राष्ट्रिय खिलाड़ी बन जाना। किसी खास वस्तु की उपयोग के दायरे में बढ़ोतरी होना, सामाजिक गतिशीलता है।

2.2.12. सामाजिक गतिशीलता के प्रकार

जहां तक सामाजिक गतिशीलता के प्रकार का सवाल है **पी.ए. सोरोकिन** ने विशुद्ध रूप से स्पष्ट किया है। इन्होंने सामाजिक गतिशीलता को दो मुख्य भागों में बांटा है-

A. समतल या क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता (Horizontal Social Mobility)

B. उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility)

उदग्र सामाजिक गतिशीलता को 2 भागों में बांटा है-

a. आरोही या ऊर्ध्वगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Ascending Vertical Social Mobility)

b. अवरोही या अधोगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Descending Vertical Social Mobility)

2.2.12.1. समतल या क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता (Horizontal Social Mobility) - सोरोकिन का कहना है कि "क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता या स्थानांतरण से मेरा अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा सामाजिक वस्तु का एक सामाजिक समूह से समान स्तर पर दूसरे में परिवर्तन है"। इस कथन से स्पष्ट होता है कि एक व्यक्ति या वस्तु का सामान स्तर वाले समूहों या स्थानों में स्थानांतरण होना समतल सामाजिक गतिशीलता है। उदाहरणस्वरुप- एक क्लर्क का एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर में सामान स्तर पर तबादला, एक अधिकारी का दूसरे शहर में समान स्तर पर तबादला, एक कॉलेज शिक्षक का दूसरे कॉलेज में समान स्तर पर तबादला। यह सभी क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता के उदाहरण हैं।

2.2.12.2. उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility) - सोरोकिन के अनुसार "उदग्र सामाजिक गतिशीलता से मेरा अभिप्राय एक सामाजिक स्तर से दूसरे में एक व्यक्ति (अथवा सामाजिक वस्तु) के परिवर्तन में निहित संबंधों से है। इस कथन से स्पष्ट है कि जब किसी व्यक्ति या सामाजिक वस्तु का परिवर्तन सामाजिक स्थिति से उच्च सामाजिक स्थिति में या उच्च से निम्न में होता है, तो उसे ही उदग्र सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। जैसे- एक बेरोजगार युवक को नौकरी मिलना, नेता का मंत्री बन जाना, एक धनी व्यक्ति का निर्धन हो जाना।

2.2.12.2.1. आरोही या ऊर्ध्वगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Ascending Vertical Social Mobility)- जब किसी व्यक्ति या सामाजिक वस्तु का स्थानांतरण निम्न स्तर से उच्च सामाजिक स्तर में होता है, तो उसे आरोही उदग्र सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। जैसे- एक स्कूल शिक्षक का प्रिंसिपल हो जाना, एक असिस्टेंट प्रोफेसर का प्रोफेसर हो जाना।

2.2.12.2.2. अवरोही या अधोगामी उदग्र सामाजिक गतिशीलता (Descending Vertical Social Mobility)- जब किसी व्यक्ति या सामाजिक वस्तु का स्थानांतरण उच्च सामाजिक स्तर से निम्न सामाजिक स्तर में होता है, तो उसे ही अवरोही उदग्र सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। जैसे- एक धनी व्यक्ति का गरीब होना, एक अधिकारी का क्लर्क हो जाना।

इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता सामान स्तर पर, निम्न स्तर से उच्च स्तर पर, उच्च स्तर से निम्न स्तर पर, देखा जाता है। इसी के आधार पर इसके प्रकारों को स्पष्ट किया जाता है।

2.2.13. सारांश

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता के इकाई में विद्यार्थियों के लिए विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। यह किसी ण किसी रूप में हर समाज में व्याप्त रही है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके माध्यम से समाज अनेक वर्गों में बट जाता है। प्रत्येक वर्ग की एक निश्चित स्थिति होती है जो एक-दूसरे की तुलना में उच्च या निम्न होती है। स्तरीकरण के बंद एवं खुला स्वरूप हमें समाज में देखने को मिलता है।

सामाजिक गतिशीलता आधुनिक समाजों की विशेषता है। यह सामाजिक परिवर्तन की अभिव्यक्ति है। गतिशीलता से अभिप्राय व्यक्ति या समूह, वस्तु या मूल्य में एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तन है। यह परिवर्तन ऊपर की ओर या नीचे की ओर हो सकता है।

2.2.14. बोध प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 01 सामाजिक गतिशीलता से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 02 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा एवं प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 03 सामाजिक स्तरीकरण क्या है?

प्रश्न 04 सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा लिखे एवं इसकी विशेषताओं की व्याख्या करें।

प्रश्न 05 सामाजिक स्तरीकरण के निर्माण के आधार बताए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 01 सामाजिक गतिशीलता का अर्थ संक्षेप में बताएं।

प्रश्न 02 सामाजिक गतिशीलता की विशेषताएँ बताएं।

प्रश्न 03 सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप स्पष्ट करें।

प्रश्न 04 सामाजिक स्तरीकरण के महत्व पर प्रकाश डालें।

प्रश्न 05 सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक असमानता में अंतर स्पष्ट करें।

2.2.15. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रश्न 01 सामाजिक गतिशीलता किस समाज की विशेषता मानी जाती है?

(क) परंपरागत समाज (ख) आधुनिक समाज

(ग) जनजातीय समाज (घ) ग्रामीण समाज

प्रश्न 02 जब किसी व्यक्ति का स्थानांतरण निम्न सामाजिक पद से उच्च में होता है तो उसे क्या कहते हैं?

(क)अवरोही (ख) क्षैतिज

(ग) इनमें से कोई नहीं (घ) आरोही

प्रश्न 03 निम्न में से कौन एक सामाजिक स्तरीकरण का जैविक आधार है?

(क) आयु (ख) संपत्ति

(ग) व्यवसाय (घ) राजनीति

प्रश्न 04 निम्न में से कौन एक सामाजिक स्तरीकरण का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार है?

(क)लिंग (ख) आयु

(ग) जाति (घ) व्यवसाय

प्रश्न 05 'जाति एक बंद वर्ग है' यह किसका कथन है?

(ख)रिजले (ख) एस.सी. दुबे

(ग)चौधरी (घ) मजूमदार एवं मदान

उत्तर – 1 ख, 2 ग, 3 क, 4, घ, 5 घ

2.2.16. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, पी.आर.गो. (2005). *समाजशास्त्र परिचय.* वाराणसी: मिश्रा ट्रेडिंग कार्पोरेशन.
2. पाण्डेय, एस.एस. (2010). *समाजशास्त्र.*नई दिल्ली: टाटा माइग्रा हिल प्रकाशन.
3. गुप्ता, एल.एम. एवं शर्मा, डी.डी. (2005). *समाजशास्त्र.* आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन.

इकाई-3 सामाजिक प्रतिमान एवं आदर्श मूल्य

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य
3.3.1. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ
3.3..2. सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाएं
3.3.3. सामाजिक प्रतिमान की विशेषताएं
3.3.4. सामाजिक प्रतिमान के स्वरुप
3.3.5. आदर्श मूल्यों का अर्थ
3.3.6. आदर्श मूल्य की परिभाषाएं
3.3.7. आदर्श मूल्यों की विशेषताएं
3.3.8. आदर्श मूल्यों का वर्गीकरण
3.3.9. समाज में मूल्यों का महत्व
3.3.10. बोधपूर्ण प्रश्नों के उत्तर
3.3.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.3.0. उद्देश्य

प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक मूल्यों का महत्वपूर्ण योगदान होता है मूल्यों के द्वारा ही सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य अपने सामाजिक दायित्वों के निरंतर पूर्ति करता है हम यह भी कह सकते है कि एक जैविक प्राणी को सामाजिक प्राणी बनाये रखने में सामाजिक मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, प्रत्येक समाज में प्रचलित आदर्शप्रतिमान और मूल्य उस समाज की संस्कृति की सम्पदा समझे जाते हैं। प्रत्येक संस्कृति में कतिपय ऐसे आदर्शप्रतिमान एवं मूल्य अवश्य पाये जाते हैं, जिनके आधार पर उस संस्कृति के लोग अपने व्यवहारों को निर्धारित करते हैं। वस्तुतः ये दोनों किसी संस्कृति के मानदण्ड हैं जो लोगों के व्यवहारों को नियमित ही नही , वरन नियंत्रित भी करते हैं। अपने सांस्कृतिक आदर्शप्रतिमानों एवं मूल्यों को बनाये रखने के लिए संस्कृति के कर्णधार विभिन्न तरीकों से उनका हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक करते रहते हैं। संस्कृति के ये कर्णधार लोगों को परंपरागत आदर्शों एवं मूल्यों का अनुसरण करते रहने की प्रेरणा प्रदान करते है और परिवर्तन का विरोध करते है रूढ़िवादिता और सनातनीपन आदर्शों एवं मूल्यों की आवश्यक विशेशताएँ हैं। मनुष्य के जीवन को ये दोनों जीतना अधिक नियंत्रित करते हैं, कानून और राज्यशक्ति भी उतना नहीं करती। लोग कानून का पालन इसलिए करते है, क्योंकि उन्हें राज्यशक्ति द्वारा दण्ड

प्रयोग का भय रहता है। किन्तु वे आदर्श प्रतिमान एवं मूल्य को इस कारण मानते हैं, क्योंकि उन्हें सामाजिक शक्ति के आदेश के रूप में स्वीकार करते है। विवेचनागत अध्ययन की सुगमता हेतु यहाँ हम इन दोनों मानदण्डों का क्रमशः विवेचन करेंगे।

3.3.1. सामाजिक प्रतिमान का अर्थ

सामाजिक प्रतिमान किसी सामाजिक व्यवस्था में ऐसे व्यवहार के सामाजिक पहलुओं को नियमित करने वाले नियमाचारों के रूप में चिन्हित किये जाते हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अवयवों को नियंत्रित करने का कार्य करते है जिसके कारण सामाजिक व्यवस्था की प्रकार्यात्मक एकता बनी रहती है और समाज उत्तरोत्तर एक स्तर से दूसरे स्तर में प्रवेश करता है, समाज के विभिन्न निर्णायक इकाइयों को अपनी-अपनी निर्धारित क्रियाओं में रत रखने में ये आदर्शप्रतिमान बहुत सहायक होते हैं। वस्तुतः आदर्शप्रतिमान सामाजिक व्यवस्था की प्रत्येक इकाई को नियंत्रित करने के महत्वपूर्ण साधन हैं। जनारितियाँ, प्रथाएं, रूढ़ियाँ, संस्थाएं, परम्पराएँ, कानून, फैशन, धुन नैतिकता एवं धर्म आदि ऐसे विभिन्न आदर्शप्रतिमान हैं जिनके अनुरूप अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से अभिप्रेरित व्यक्ति विभिन्न प्रकार की अन्तःक्रियाएं करते हैं। प्रत्येक समाज के आदर्शप्रतिमान सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार पृथक-पृथक होते हैं और उन्ही के अनुरूप प्रत्येक समाज में सामाजिक व्यवस्था विकसित होती है। ये आदर्शप्रतिमान ही सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखते हैं। इन्ही की क्रियाशीलता पर सामाजिक व्यवस्था आधारित रहती है। इन्हें आदर्श इसलिए कहा जाता है कि समाज द्वारा मान्य एवं स्वीकृत होती हैं तथा समाज की आवश्यकताओं, लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के अनुरूप होते हैं। इस प्रकार सामाजिक आदर्शप्रतिमान किसी समूह द्वारा विकसित, मान्य और स्वीकृत वे मानदण्ड है, जिनके द्वारा समूह के सदस्यों के व्यवहारों का न केवल नियमन, वरन नियंत्रण भी होता है।

1. सामाजिक जीवन में सामाजिक प्राणियों के रूप में किसी विशेष समूह की अन्य सदस्यों द्वारा स्वीकृति अथवा नियमितता का निरीक्षण, उस व्यवहार विशेष की समूह के अन्य सदस्यों द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत व्यवहार को मानदण्ड के रूप में देखा जाता है।
2. किसी एक समूह की परिस्थिति विशेष में किसी व्यवहार विशेष की आवृत्ति और नियमितता का निरीक्ष।
3. समूह के अन्य सदस्यों की विधियों के विषय में राय।

जब कोई व्यवहार एक निश्चित प्रकार से बार-बार घटित होता है तो उसे व्यवहार की नियमितता कहा जाता है। व्यवहार नियमितता सामाजिक आदर्शप्रतिमान की उपस्थिति का निर्धारण करती है। सामाजिक आदर्शप्रतिमानों की शक्ति में विभिन्नता होती है। यदि कोई कार पार्किंग के निषेधों की अवहेलना करता है तो यह कुछ सीमा तक क्षम्य है। किन्तु यदि कोई किसी व्यक्ति की हत्या कर दे तो समूह इसे जल्दी सहन नहीं करता है। कोई व्यवहार किस सीमा तक अपेक्षित है, इसका निर्धारण इस बात से हो सकता है की उस व्यवहार के समर्थन में किस मात्रा में सामाजिक दबाव का प्रयोग किया जाता है।

3.3.2. सामाजिक प्रतिमान की परिभाषाएं

1. **राबर्ट बिरस्टीड :** अपनी रचना **'दी सोशल आर्डर'** में सामाजिक आदर्शप्रतिमान को परिभाषित करते हुए यह उद्गार व्यक्त किया है कि "एक आदर्शप्रतिमान एक नियम या मानदण्ड है जो सामाजिक परिस्थितियों, जिसमे हम सहभागीदार होते है में हमारे आचरण को नियंत्रित करता है। यह एक सामाजिक प्रत्याशा है। यह एक मानदण्ड है जो हमसे एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने की आशा करती है, चाहे वास्तव में हम वैसा व्यवहार करें या नहीं,यह एक सांस्कृतिक विनिर्देशन है जो समाज में हमारे आचरण को मार्गदर्शित करता है। यह कार्यों को करने का एक तरीका है, जिसे समाज द्वारा हमारे लिए निर्धारित किया गया है। यह सामाजिक नियंत्रण का आवश्यक उपकरण है।
2. **किंग्सले डेविस** ने अपनी पुस्तक **'ह्यूमन सोसाइटी'** में सामाजिक आदर्शों को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "वे (सामाजिक आदर्श)" नियंत्रक हैं। इनके माध्यम से ही मानव समाज अपने सदस्यों के व्यवहार को इस प्रकार नियमित करता है कि वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ती करते हुए कार्य सम्पादित करते रहे, भले ही कभी-कभी उनकी प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ती में इससे बाधा पहुचती हो।

3.3.3. सामाजिक प्रतिमान की विशेषताएं (Characteristics of Social Pattern)

सामाजिक आदर्श की मुख्या विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं -

1. सामाजिक आदर्शप्रतिमान से सम्बंधित दबाव के अनुदेश सकारात्मक अथवा नकारात्मक दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।
2. सामाजिक आदर्शों के अनुशीलन करने की अपेक्षा प्रायः उस समाज के सभी सदस्यों से की जाती है।
3. सामाजिक आदर्शों का पालन सामाजिक दबाव को ध्यान में रखकर किया जाता है।
4. सामाजिक आदर्श अनेक प्रकार के होते हैं, राजकीय, विधान या कानून, आर्थिक, राजनीतिक,धार्मिक, और संस्क्रितिकादी संस्थाओं द्वारा निर्मित नियम और जनारितियाँ , प्रथाएँ, परम्पराएँ तथा रूढ़ियाँ इत्यादि।
5. सामाजिक आदर्शप्रतिमान मानव व्यवहार को प्रणालीबद्ध करने वाले नियम होते हैं।
6. भिन्न-भिन्न समूहों व समाजों में सामाजिक आदर्शों के स्वरुप भिन्न-भिन्न होते हैं।

3.3.4. सामाजिक प्रतिमान के स्वरुप (Types of Social Pattern)

आदर्शप्रतिमान चूँकि संस्कृति का विशेष अंग है, अतः यह नानाविधि रूप में समाज में व्याप्त है। कुछ महत्वपूर्ण आदर्शप्रतिमान निम्नलिखित हैं -

1. **जनरितियाँ** - जनरितियाँ व्यवहार की वे मान्यता प्राप्त कार्यविधिकी है जो वैयक्तिक एवं समाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वीकारमूलक एवं बाध्यतामूलक होती है तथा जिन्हें प्रत्येक पीढ़ी के लोग उन्हें अधिक या कम मात्र में स्वीकार करते रहते हैं। सभी जनसमूहों में जनारितियों की सत्ता पायी जाती है। जनारितियाँ सर्वत्र और सभी कालों में एक-सी नही रहती। समय और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं।
2. **प्रथाएँ** - प्रथाएँ समूह व समाज द्वारा मान्यताप्राप्त एवं स्वीकृत कार्य करने व व्यवहार करने की वे प्रणालियाँ हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं और जिसका भंजन करना शायद एक कठिन कार्य है। संक्षेप में कार्य करने व व्यवहार करने के विषय में जो बातें सामाजिक रूप से स्वीकृत होती हैं, उन्हें ही समाज की प्रथाएँ कहा जाता है।
3. **रूढ़ियाँ** - रूढ़ियाँ वे सामाजिक आदर्शप्रतिमान है जो कि किसी समूह व समाज के लिये व्यवहार के नैतिक मानदण्ड प्रस्तुत करते हैं तथा जिनका उल्लंघन करने पर उल्लंघनकर्ता को समूह व समाज द्वारा कठोर दण्ड दिया जाता है। जब कोई जनरीती व प्रथा मानव समूह में इतनी बद्धमूल हो जाती है कि वह उनके आचरण व व्यवहार को नियंत्रित करने लगती है तो वह रूधि कहलाने लगती है।

3.3.5. आदर्श मूल्यों का अर्थ (Meaning of Values)

सामाजिक आदर्शप्रतिमान जहाँ एक ओर किसी समूह व समाज में लोगों के व्यवहारों व आचरणों को प्रणालीबद्ध करने वाले नियम हैं, वहीँ दूसरी ओर मूल्य सामाजिक मान्यता प्राप्त इच्छाओं और उद्देश्यों की वरीयता और वांछनीयता पर बल देते हैं। इस प्रकार सामाजिक मूल्यों के साथ निर्णय की बात जुटी रहती, जिसके आधार पर सही या गलत और उचित या अनुचित का निर्धारण होता है।

प्रत्येक व्यक्ति, समूह, समुदाय एवं समाज व संस्कृति के कुछ केंद्रीय मूल्य होते है, जिनके आधार पर वे जीवित रहते है। मूल्यहीन व्यक्ति एवं समूह तथा संस्कृति एवं समाज मृतक के समान होता है। वस्तुतः किसी समाज व संस्कृति का अस्तित्व मूल्यों पर ही आधृत होता है। बिना मूल्यों, आदर्शों और सद्गुण के निर्माण एवं पुनर्निर्माण के समाजों का अस्तित्व नहीं रह सकता। परंपरागत भारतीय सामाजिक प्रणाली के केंद्रीय मूल्य वर्ण, आश्रम और पुरुषार्थ के रूप में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का संपादन है। आधुनिक भारतीय राष्ट्र के पाश्चात्य औद्योगिक समाजों के केंद्रीय मूल्य के अंतर्गत वैयक्तिकता, स्वतंत्रता और उद्द्यमशीलता आदि अंतर्विष्ट है।

सामाजिक मूल्यों में संस्तरणात्मक क्रम पाया जाता है। मूल्य अनुभव सदैव समुदाय में ही पैदा होते हैं। एक ओर तो छोटे समुदायों में जहाँ विशिष्ट मूल्यों पर जोर दिया जाता है, वहीँ विस्तृत समाज में सार्वभौमिक मूल्यों पर बल दिया जाता है।

3.3.6. आदर्श मूल्य की परिभाषाएं (Definition of Values)

1. **प्रो० राधा कमल मुखर्जी** ने अपनी प्रसिद्ध रचना **दि सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज** में इसकी परिभाषा करते हुए लिखा है, "मूल्य एक जटिल सम्पूर्णता है, एक चेतन प्राणीशास्त्रीय सामाजिक-आदर्श परिस्थिति है" । इस परिभाषा के अनुसार मूल्य सम्पूर्ण व्यक्तित्व से संबंध रखता है और यह मनुष्य की प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं, सामाजिक संबंधों एवं मानव के आदर्शों पर आधारित होता है। यह एक सजीव सामाजिक तथ्य है, केवल परिकल्पना नही।
2. **होवार्ड सी० वारेन** के अनुसार मूल्य एक आत्मनिष्ठ मुल्यांकन अथवा माप है। यह वह महत्व है जो हम एक दत्त-सामग्री (Data) की तुलना में देते हैं।
3. **थामस और जनैनिकी** के शब्दों में "मूल्य के कोई उद्देश्य हैं जो एक सामाजिक समूह के सदस्यों को संतोष एवं अर्थ प्रदान करते हैं

3.3.7. आदर्श मूल्यों की विशेषताएं (Characteristics of Values)

मूल्यों की मुख्य विशेषताओं को हम निम्न बिन्दुओं में रखकर प्रस्तुत कर सकते हैं -

1. मूल्य एक जटिल सम्पूर्णता है
2. मूल्य एक सार्वभौम प्रघटना है
3. सभी मूल्यों में संज्ञानात्मक तत्व निहित होते हैं
4. मूल्य अदृश्य होते हैं
5. मूल्य भावात्मक होते हैं
6. मूल्यों का सामाजिक सन्दर्भ
7. मूल्यों के सन्दर्भ में समूह के लोगों में मतैक्यता रहता है
8. मूल्य गत्यात्मक होते है
9. गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों और जीवन के विभिन्न पक्षों के अनुरूप ही मूल्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं
10. मूल्यों को अर्जत किया जाता है

3.3.8. आदर्श मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of Values)

सामान्यतः मूल्यों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. **आत्मनिष्ठ मूल्य**
2. **वस्तुनिष्ठ मूल्य**
3. **सामाजिक मूल्य**

आत्मनिष्ठ मूल्य वे मूल्य होते हैं, जिनके निर्णय का मानदण्ड व्यक्तिउओन, समूहों संस्थाओं द्वारा सामाजिक सन्दर्भ से उत्पन्न होता है। **वस्तुनिष्ठ मूल्य** वे मूल्य होते हैं, जिनके निर्णय का मानदण्ड व्यक्तियों, समूहों या संस्थाओं की मतैक्यता से सिद्ध होता है। तथा **सामाजिक मूल्य** की स्वीकृति प्राप्त वे जीवित, अजीवित मानवीय, कृत्रिम या अभौतिक विषय हैं, जिन्हें समूह महत्वपूर्ण समझता है। मूल्य सकारात्मक या नकारात्मक हो सकते हैं। व्यक्तियों की अभिवृत्तियां बहुधा समूह की मतैक्यता को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य एक समूह के द्वारा मान्य होते हैं और मान्य मूल्यों के अनुसार ही समूह के लोग व्यवहार करते हैं।

3.3.9. समाज में मूल्यों का महत्व (Importance of Values in Society)

1. मूल्य मानव समाज व संस्कृति के मूलतत्व हैं
2. मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अंतर्क्रिया की प्रणाली को एकीकृत करने में सहायक होते हैं
3. व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों के विकास का बुनियादी आधार
4. मूल्य सामान्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं
5. मूल्य-समाज में लोगों की भूमिकाओं को निर्देशित करते है
6. मूल्य सामाजिक नियंत्रण के सशक्त साधन हैं
7. मूल्य समाज के विचारों के आदर्श तरीकों एवं व्यवहारों के प्रतीक हैं
8. मूल्य सामाजिक संस्थाओं एवं संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करते है
9. आधुनिक काल की मूल्यहीनता की व्याधिकीय समस्या का निवारण मूल्य ही कर सकते हैं

3.3.10. बोध प्रश्न

Q.1 राबर्ट बिरस्टीड की पुस्तक का क्या नाम है ?

Ans.1 द सोशल आर्डर

Q.2 ह्यूमन सोसाइटी पुस्तक के लेखक कौन हैं ?

Ans.2 किंग्सले डेविस

Q.3 फोकवेज़ पुस्तक के लेखक कौन हैं ?

Ans.3 डब्ल्यू. जी. समनर

Q.4 सामाजिक मूल्य क्या है ?

Ans.4 वांछनीय व्यवहार

Q.5 दि सोशल स्ट्रक्चर ऑफ़ वैल्यूज किसकी पुस्तक है ?

Ans.5 प्रो. राधा कमल मुखर्जी

Q.6 "मूल्य के कोई उद्देश्य हैं जो एक सामाजिक समूह के सदस्यों को संतोष एवं अर्थ प्रदान करते हैं" यह परिभाषा किस विद्वान की है ?

Ans.6 थामस और नैनी की

Q.7 सामाजिक मूल्यों का वर्गीकरण कितने भागों में किया जा सकता है ?

Ans.7 तीन भागों में

3.3.11. संदर्भ ग्रंथ सूची

- Bierstedt, Robert. (1957). *The Social Order* Newyork: McGraw-Hill Book Co.,
- Davis, Kingsley. (1942). *Human Society*. Macmillan.
- Johnson, Harry. M. (1960). *Sociology: A Systematic Introduction*, New Delhi: Allied Publishers Private Limited.
- Klinberg, O. (1960). *Social Psychology*. New York: Henry Holt and Co.
- Mukharjee, R.K. (1949). *The Social Structure of Values*. London: The Macmillan and Company Ltd.

खंड-3 सामाजिक संस्थाएं एवं समाजीकरण

इकाई-1 समाजीकरण :अर्थ ,परिभाषा ,प्रकार एवं सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य

3.1.1. प्रस्तावना

3.1.2. समाजीकरण का अर्थ

3.1.3. समाजीकरण की परिभाषाएँ

3.1.4. सामाजीकरण के उद्देश्य

3.1.5. समाजीकरण की विशेषताएँ

3.1.6. सामाजीकरण के प्रकार

3.1.7. सामाजीकरण के सिद्धांत

3.1.8. समाजीकरण की प्रक्रिया

3.1.9. सामाजीकरण प्रक्रिया के मुख्य कारक

3.1.10. सामाजीकरण के साधन

3.1.11. बालक के सामाजीकरण में बाधक तत्व

3.1.12. सारांश

3.1.13. बोध प्रश्न

3.1.14. कठिन शब्दावली

3.1.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.1.0. उद्देश्य कथन

इस इकाई के पढ़ने ने के उपरांत आप

- सामाजीकरण की विशेषताएँ जान ले गें
- सामाजीकरण के उद्देश्य क्या है ? समझलेगें
- सामाजीकरण के प्रकारों की जानकारी हो जाएगी।
- सामाजीकरण के बाधक तत्व से परिचित हो जाएगें
- परिवार की सामाजीकरण में भूमिका समझ पाएगें
- सामाजीकरण के सिद्धांत को समझ पाएगें
- पुरस्कार एवं दण्ड से हम कैसे सामाजीकरण कर सकते है।

- सामाजीकरण की आवश्यकता को समझ पाएगें
- सामाजीकरण के महत्व को समझ पाएगें।

3.1.1. प्रस्तावना

इस इकाई में हम पढ़ेगें समाजीकरण क्या है ? सामाजीकरण के उद्देश्य क्या है ,उसकी क्या विशेषताएँ है? समाजीकरण के प्रकार कौन–कौन से है एवं समाजीकरण के सिद्धांतो की जानकारी प्राप्त करेगें सामाजीकरण प्रक्रिया कैसे होती है, सामाजीकरण के साधन कौन-कौन से है एवं सामाजीकरण में बाधक तत्व कौन कौन से है ? यह समझ सकेंगे।

3.1.2. समाजीकरण का अर्थ

सामाजीकरण एक प्रक्रिया है जो निरन्तर चलती रहती है, जिसके द्वारा बालक या व्यक्ति अपने समाज की जीवन-शैली, रहन-सहन, नियम कायदे सीखता है और समाज में समायोजन करता है। बालक जिस समाज में जन्म लेता है और रहता है उसे उस समाज की भाषा, रहन-सहन, खान-पान, नियम-कायदे, और रीति-रिवाज सीखने होते है। इनके सीखे बिना वह उस समाज में समायोजन नहीं कर सकता तथा उस समाज का सदस्य नहीं बन सकता। बालक ये सब कार्य एक दिन में नहीं सीखता यह सब सीखने में उसे काफी समय लगता है जन्म से लेकर मृत्यु तक वह सीखता ही रहता है अत: यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। जन्म के साथ ही परिवार में रहकर भाषा एवं परिवार के नियम कायदे रहन-सहन, खान-पान और आचरण सीखता है। विद्यालय में जाने के बाद वह अन्य छात्रों के सम्पर्क में आने के पश्चात् आपसी व्यवहार विद्यालय के नियम, सामूहिक कार्य, सहयोग, सीखता है। वह जैसे जैसे बड़ा होता है तैसे तैसे समाज के रीतिरिवाज सीखने लगता है और उसकी के अनुसार अपना आचरण कर अपने समाज में समायोजन करता है। प्राय: मनुष्य एक साथ अनेक समाजों का सदस्य होता है, इनमें से किसी भी समाज में समायोजन करने के लिए उसे उसकी भाषा, और व्यवहार प्रतिमानों को सीखना होता है। इस पूरी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि सामाजिकरण का अर्थ समाज का अन्धानुकरण करना नहीं हैं यदि जैसा समाज है वैसा ही हम अनुसरण करते रहे तो समाज की विकासात्मक प्रक्रिया में एक ठहराव-सा आ जायेगा। इसी कारण यह प्रक्रिया चयनात्मक एवं मूल्यांकनात्मक प्रक्रिया हैं जो समाज में विद्यामान तौर तरीकों का मूल्यांकन करता है और जो समय की दृष्टि से उचित एवं वांछनीय है उनका चयन कर लेता है। अन्य को छोड देता है। उदाहरणार्थ – भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है जाति व्यवस्था परन्तु आज के समाज में हमें इसका त्याग करना होगा जो व्यक्ति अपने आपको इस जातिगत भेदभावों से दूर रख सके, वही समाजीकृत व्यक्ति कहा जायेगा।

जिस छात्र या व्यक्ति का समाजीकरण हो जाता है, वह अपने व्यवहार को समाज के मूल्यों एवं मानकों के अनुसार अपने आप को ढालता है तथा वह ऐसे कार्य नहीं करता जो समाज विरोधी हो इस प्रकार हम कह सकते है कि समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के व्यवहार को प्रतिबन्धित करती है वह समाज के नियम कायदों में बंध कर रह जाता है ओर कुछ नया नहीं कर पाता है या नया करने के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है। वास्तव में समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक समाज के तौर तरीकों को सीखता है व उन्हें अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनाता हैं। किशोरावस्था के छात्र छात्राओं को समाजीकरण प्रक्रिया में बहुत संघर्ष करना पड़ता है वे सामाजिक नियमों को मानना नहीं चाहते जबकि परिवार एवं समाज निरन्तर उन पर समाज के अनुरूप चलने का दबाब डालता है।

3.1.3. समाजीकरण की परिभाषाएं

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है जिनमें से कुछ निम्नलिखित है –

आगबर्न के अनुसार – समाजीकरण एक प्रक्रियाहै जिसमें व्यक्ति समूह के आदर्श नियमों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है।

हरलॉक के अनुसार – "यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति इस प्रकार का व्यवहार करता है जिससे कि वह उस समूह के अनुकूल अपना व्यवहार करता है जिसके साथ वह अपना आत्मीकरण करता है जिससे की सामाजिक समूह द्वारा वह एक सदस्य के रूप में स्वीकृत किया जा सके"

ग्रीन के अनुसार – "सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन एवं व्यक्तित्व को प्राप्त करता है"

एच.एम. जॉन सन के अनुसार – "सामाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है"

गिलिन और गिलिन के अनुसार – "सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का एक क्रियात्मक सदस्य बनता है तथा उसी के स्तर के अनुसार कार्य करता है। उसके लोकाचार, परम्परा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना समन्वय स्थापित करता है।"

बोगार्डस के अनुसार – सामाजीकरण इकट्ठा मिलकर कार्य करने सामूहिक दायित्वों की भावना विकसित करने तथा अन्य व्यक्तियों की काल्यणकारी आवश्यकताओं से मार्गदर्शन लेने की प्रक्रिया है

रॉस के अनुसार – "सामाजीकरण सहयोग करने वाले व्यक्तियों में हम भावना का विकास करती है और एक साथ कार्य करने की इच्दा तथा क्षमता की वृद्धि करती है।"

स्टीवर्ट एवं ग्लिन के अनुसार – "सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करता है और उन से अनुकूलन करना सीखता है।"

3.1.4. सामाजीकरण के उद्देश्य

ब्रूम तथा सेल्जनिक ने सामाजीकरण के चार प्रमुख उद्देश्य बतलाये है जो इस प्रकार है –

1. **नियमबद्धता का विकास** – सामाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध बनाये रखने के लिए आवश्यक है। सामाजीकरण से वह परिवार, विद्यालय एवं समाज के निमयों से परिचित होकर उनके अनुरूप चलता है जिससे समाज सुचारू रूप से चलता रहता है।
2. **सामाजिक क्षमताओं का विकास** – सामाजीकरण से मनुष्य में सामाजिक क्षमताओं जैसे - सहयोग, त्याग, दया, आदि का विकास होता है जिससे समाज का वातावरण सौहार्द्ध पूर्ण बना रहता है।
3. **आकांक्षाओं की पूर्ति** – सामाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति में आकांक्षाओं को उत्पन्न करना है तथा उनको प्राप्त करने के लिए सहायता पहुँचाना है।
4. **सामाजिक दायित्वों की पूर्ति का प्रशिक्षण** – सामाजीकरण से व्यक्ति विभिन्न प्रकार की सामाजिक भूमिका निभाने की योग्यता प्राप्त करता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया से वह सीखता है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति अन्य लोगों से किस प्रकार सामंजस्य स्थापित करें।

3.1.5. सामाजीकरण की विशेषताएँ

1. सामाजीकरण जीवनपर्यन्त चने वाली प्रक्रिया है अर्थात् बालक के जन्म से लेकर मृत्यु तक सामाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है।
2. सामाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है परन्तु सभी प्रकार का सीखना सामाजीकरण नहीं हैं। समाज द्वारा मान्य व्यवहारों, मूल्यों एवं आदर्शों को सीखना सामाजीकरण कहलाता है।
3. सामाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान के सापेक्ष होती है। यह समय व स्थान के साथ बदलती रहती है। इसी कारण विभिन्न समाजों में विभिन्न कालों में सामाजीकरण का ढंग भिन्न-भिन्न होता है।
4. सामाजीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति क 'आत्म' का विकास होता है फिर इसी के द्वारा व्यक्ति का निर्माण होता है।
5. सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा समाज की सांस्कृतिक विशेषतएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार हम कह सकते है कि सामाजीकरण सांस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया है।

3.1.6. सामाजीकरण के प्रकार

आर बिले एफ. ब्रिम (जूनियर) के अनुसार सामाजीकरण जीवन भर चलनेवाली प्रक्रिया है। बचपन एवं किशोरावस्था में सामाजीकरण ज्यादा होता है जो व्यस्क एवं प्रौढ़ अवस्था तक चलता रहता है विभिन्न आयु वर्ग में सामाजीकरण अलग-अलग होता है इस प्रकार हम सामाजीकरण को निम्न भागों में बाट सकते हैं।

- प्राथमिक सामाजीकरण
- माध्यमिक सामाजीकरण
- व्यस्क सामाजीकरण
- प्रत्याशित सामाजीकरण
- पुन: सामाजीकरण
- वि-सामाजीकरण
- नाकारात्मक सामाजीकरण

- **प्राथमिक सामाजीकरण** – प्राथमिक सामाजीकरण बालक के परिवार में होता है यह शिशु अवस्था या जीवन के प्रारंभ की अवस्था होती है। इसमें वह भाषा, संज्ञानात्मक कौशल, आंतरिक मानदण्ड एवं मूल्य सीखता है। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष अनुभवों और अवलोकन से वह धीरे-धीरे गलत एवं सही चीजों से संबंधित मापदण्डों को सीखता है।
- **माध्यमिक सामाजीकरण** – यह सामाजीकरण साथियों के मध्य होता है। बच्चे अपने साथियों से सामाजिक आचरण के महत्वपूर्ण सबक सीखते है। वह परिवार से निकलकर विद्यालय जाता है वहा वह विभिन्न प्रकार के छात्रों के सम्पर्क में आता है उनके साथ रह कर एवं संस्था के नियम कायदों को वह सीखता है। यह प्रक्रिया मुख्य रूप से संस्था में पूर्ण होती है। यह सामाजीकरण को औपचारिक सामाजीकरण भी कह सकते है क्योंकि सामाजीकरण संस्था में या औपचारिक रूप से होता है।
- **व्यस्क सामाजीकरण** – व्यस्क सामाजीकरण में व्यक्ति एक भूमिका निभाता है जैसे वह कर्मचारी बन जाता है तो वह कर्मचारी की भूमिका निभायेगा उसे कर्मचारी के नियम कायदों की सीखना पड़ता है वह शादी करता है तो उसे पति या पत्नि की भूमिका उसके नियम कायदों को सीखना पड़ता है। अत: हम कह सकते है कि व्यस्क सामाजीकरण लोगों को नये कर्तव्यों को लेने के लिए सिखाता है। व्यस्क सामाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन लाना है। व्यस्क सामाजीकरण में व्यक्ति के व्यवहार में ज्यादा परिवर्तन आता है, जबकि बाल (प्राथमिक) सामाजीकरण में उसके मूल्यों में ज्यादा परिवर्तन होता है।

- **प्रत्याशित सामाजीकरण** – किसी एक चीज की प्रत्यक्ष में किया गया सामाजीकरण प्रत्याशित सामाजीकरण कहलाता है जैसे एक व्यक्ति प्रबन्धक बनना चाहता है तो वह प्रबन्धक के मान्यताओं मूल्यों नियमों आदर्शों को सीखता है इस प्रकारण के सामाजीकरण को प्रत्याशित सामाजीकरण कहते है।
- **पुन: सामाजीकरण** – इस सामाजीकरण में पहले से मान्य, मान्यताओं व्यवहार को हटाकर उसे पुन: किसी अन्य मान्यताओं व्यवहार को सिखाया जाता है। पुन: सामाजीकरण में व्यक्ति की सामाजिक भूमिका मूल रूप से बदल जाती है। इसमें व्यक्ति को एक भूमिका से दूसरी भूमिका में जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए कोई शिक्षक अपना व्यवसाय बदलकर बैं में मैनेजर बन जायेगा तो उसे अपनी पहले की भूमिका बदलना पड़ती है।
- **वि-सामाजीकरण** – वि- सामाजिकरण का मतलब है सामाजीकृत व्यवहार को प्रयास के साथ भूलने या छोड़ने से है। जैसे बचपन में कुद ऐसे व्यवहार सीख लेता है जिसे बाद में उसे भूलना पड़ता है या छोड़ना पड़ता है जैसे बचपन में बच्चे गाली देना सीख जाते है जिसे उन्हें आगे चलकर गाली देना छोड़ना पड़ता है या भूलना पड़ता है। छोड़ने एवं भूलने के इस प्रयास को वि-सामाजीकरण कहते है।
- **नाकारात्मक सामाजीकरण** – समाज द्वारा अस्वीकृत मानदंडो को सीखना नकारात्मक सामाजीकरण कहलाता है जैसे चोरी करना, गन्दगी करना, झगड़ा करना आदि समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहार है परन्तु कुछ लोग इसे सीख लेते है ये. व्यवहार सामाजीकरण के अन्तर्गत नहीं आते परन्तु चूंकि इन्हें वह समाज से ही सीखता है इसलिए इन्हें हम नाकारात्मक सामाजीकरण कह सकते है।

3.1.7. सामाजीकरण के सिद्धांत

सामाजीकरण की प्रक्रिया के संबंध में विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा विभिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं जिनमें से प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित है –

- कूले का आत्म दर्पण का सिद्धांत
- मीड का 'मैं' तथा 'मुझे का सिद्धांत
- सिग्मंड फ्राइडका इड, अहम् तथा पराहम का सिद्धांत
- जेम्स का अनुकरण सिद्धांत
- दुर्खीम का सिद्धांत

कूले का सिद्धांत – कूले ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन एण्ड सोशल आर्डर' में इस सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार सामाजिक चेतना के विकास में व्यक्ति के आत्म का बहुत महत्व है। इसके साथ ही उन्होंने 'स्वयं का दर्पण' या 'आत्म-दर्पण' शब्द का उपयोग किया। उन्होंने बताया कि आत्म-दर्पण का प्रभाव हमारे

दैनिक जीवन पर पड़ता है। शिशु अपने जन्म के कुछ समय बाद ही यह समझने लगता है कि लोग उसके बारे में क्या सोचते है, वह दूसरे की प्रतिक्रियाओं पर ध्यान देने लगता है। अपने में वह लोगों के क्रोध शाबासी जैसे भाव को समझता है तथा अपने व्यक्तित्व को उसी प्रकार बदल लेता है।

अर्थात् वह अपने विषय में वही सोचता है जो समाज उसके विषय में सोचता है यह व्यक्ति का 'स्व' है। जैसे – किसी अभिनेत्री के विषय में समाज सोचता है कि वह बहुत सुन्दर है तो वह अभिनेत्री भी अपने बारे में सोचती है कि मैं बहुत सुन्दर हूँ। यही उसका 'स्व' है। इस प्रकार 'स्व' का विषय सामाजिक अन्त:क्रियासे विकसित होता है। "स्व या अहम् वह है जो ऊपर (Alter) सोचता है। आत्म्-दर्पण की अवधारणा कूले ने विलियम थैकरे की पुस्तक दी वेनिटी फेयर 'The Varity fair' से लिया था।

इसी के द्वारा सामाजीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है और व्यक्ति को आत्मचेतना सामाजिक चेतना, तथा जन-चेतना प्राप्त होती है। आत्म चेतना अर्थ है व्यक्ति स्वयं के बारे में क्या सोचता है सामाजिक चेतना अर्थ है अन्य व्यक्त्यिों का क्या सोचना है एवं जन चेतना का अर्थ है आत्मचेतना एवं सामाजिक चेतना का सामूहिक दृष्टिकोण जिसमें सभी व्यक्ति एक समुदाय का गठन करते है। कूले का विचार है कि "जन चेतना हेतु विचारों का आदान-प्रदान जरूरी है चूँकि इसके कारण मानव संबंध बने रहते है।

मीड का सिद्धांत – जार्ज मीड ने अपनी पुस्तक 'माइन्ड सेल्फ एण्ड सोसाइटी' में बतलाया कि व्यक्ति में 'स्व' का बोध सामाजिक अन्त:क्रियाओं का परिणाम होता है। 'मैं' व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार का प्रतिनिधि है जबकि 'मुझे' व्यक्ति द्वारा दूसरो के प्रति किए गए व्यवहार की प्रतिक्रिया (जो दूसरे बनाते है) का प्रतिनिधि है। मैं और 'मुझे' में अन्त:क्रिया के परिणाम स्वरूप 'स्व' का विकास होता है। पहले पहले मैं और 'मुझे' में विरोधामास होता है परन्तु जैसे-जैसे व्यक्ति की समाज में अन्त:क्रिया व्यापक स्तर पर होने लगती है 'मैं' और 'मुझे' में अन्तर अन्तर समाप्त हो जाता है तब व्यक्ति अपने बारे में वही सोचने लगता है जो समाज उसके बारे में सोचता है। और अन्त: में व्यक्ति समाज के सामान्य व्यवहारों नियमों को अपने व्यक्तित्व में समाहित कर लेता है इसे सामाजीकरण कहते है। सामाजीकरण के पश्चात् उसे यह ज्ञात हो जाता है कि उसे कब कहाँ क्या करना है और क्या नहीं। इसे 'मैं' तथा 'मुझे' का सिद्धांत भी कहते है।

फ्राइड का सिद्धांत – सिगमंड फ्राइड को असमान्य मनोविज्ञान का पिता माना जाता है। फ्राइड के अनुसार "बालक बाल्यावस्था में ही अपनी संस्कृति एवं समाज के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है तथा स्वयं को अपने माता-पिता, दादा-दादी के साथ आत्म्सात् करने लगता है तथा उन्हीं के विचार दृष्टिकोण एवं अन्य क्रियाएं चेतन या अचेतन रूप से सीखता है। इसके अनुसार मानव व्यवहार को तीन भागों में बांट सकते हैं इड (ID) यह मूल प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि होता है इसके अन्तर्गत असामाजीकृत या पाशविक इच्छाएं आती है। अत:इड सामाजीकरण के लिए ठीक नहीं है। अहम् (Ego) यह व्यक्ति के व्यवहार का तार्किक पक्ष है जो व्यक्ति को समाज की अपेक्षा के अनुरूप कार्य करने का सुझाव देता है। तथा पराहम् (Super ago) यह

समाज के उच्च आदर्शों मूल्यों अपेक्षाओं को प्रदर्शित करता है । अत: सामाजीकरण हेतु फ्राइड अहम् (Ego) एवं परम अहम (Super ego) को आवश्यक मानता है । इड एवं परम अहम् के बीच संतुलन का कार्य अहम् करता है । इड व्यक्ति को गलत कार्य करने को प्रेरित करता है तो परम अहम् उसे आर्दश स्थिति में ले जाने का प्रयास करता है जबकि अहम् किसी गलत (इच्छा) कर्ा या विचार को समाज के नियम कायदों के अन्तर्गत कैसे कर सकते है उसके विषय में सोचने पर मजबूर करता है ।

जहाँ कूले एवं मीड 'स्व' को सामाजिक अंत: क्रियाओं का परिणाम मानते हैं वहीं फ्रायड इसे मानसिक स्थिति से स्पष्ट करते हैं ।

जेम्स का अनुकरण सिद्धांत – जेम्स भी एक मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने कहा कि शिशु अपने आस-पास के वातावरण को देखकर अपने व्यवहार को बदलते है । वह अअपने बड़ों का अनुकरण करते हैं इसलिए बालक के व्यक्तित्व पर उसके पिता का तथा बालिका के व्यक्तित्व पर उसकी माता का प्रभाव देखा जाता है ।

दुर्खीम का सिद्धांत – प्रसिद्ध समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने सामाजीकरण के सिद्धांत को सामूहिक प्रतिनिधित्व पर आधारित बताया । यहाँ सामूहिक प्रतिनिधित्व का अर्थ है कि कोई व्यक्ति उन विचारधाराओं के अनुसार अपने आप को बदलता है जो समाज में व्याप्त है साथ ही व्यक्ति के विकास में समाज में विद्यामान मूल्यों एवं आस्थाओं का भी प्रभाव पड़ता है ।

3.1.8. समाजीकरण की प्रक्रिया

सामाजीकरण की प्रक्रिया एक सामाजिक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति का विकास सामाजिक संस्थाओं के अनुकूल होता है परन्तु व्यक्ति को अपने आपको भी इसके लिए तैयार करना होता है । इस प्रक्रिया में व्यक्ति में दो प्रकार से परिवर्तन आते है पहला उसका विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से होने वाली अन्त:क्रियाओं दूसरा उसके अन्दर होने वाली अन्त:क्रिया विभिन्न व्यक्तियों के मध्य होने वाली क्रियाओं से व्यक्ति उचित व्यवहार करने के नियम कायदें सीखता है । क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि वह समाज का एक स्वीकृत सदस्य बने इसके लिए जरूरी है कि उसका व्यवहार समाज के अनुकूल हो । इस स्तर पर व्यक्ति चार प्रक्रियाओं द्वारा सीखता है –

1. प्रतिस्पर्धा 2. सहयोग 3. संघर्ष 4. सामजस्य सामाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति के अन्दर होने वाली अन्त:क्रिया की अपन महत्व है चूँकि व्यक्ति जब तक स्वयं समाज के अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रेरित नहीं होगा अन्य कोई भी व्यक्ति उसे ऐसा करने के लिए बाह्य नहीं कर सकता है । इसके अन्तर्गत निम्न तीन प्रक्रियाएं आता है ।

    1. सात्मीकरण 2. आत्मीकरण 3. अनुकरण

3.1.9. सामाजीकरण प्रक्रिया के मुख्य कारक –

सामाजिक प्रक्रिया के मुख्य कारक निम्नलिखित हैं

- **पालन पोषण (Child Rearing)** – सामाजीकरणके लिए यह आवश्यक है कि बालक का पालन पोषण उचित ढंग से किया जाये। ऐसा होने पर ही वह समाज के मूल्यों एवं आदर्शों के अनुसार आचरण करना सीखता है।
- **सहानुभूति (Sympathy)** – पालन पोषण की भाँति सहानुभूति का भी बालक के सामाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शिशु अवस्था में बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार पर निर्भर रहता है। बालक की आश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ उसके साथ सहानुभूति की आवश्यकता भी होती है। सहानुभूति के द्वारा बालक में अपतत्व की भावना विकसित होती है। जिसके परिणाम स्वरूप वह भेदभाव करना सीख जाता है। वह उन लोगों को ज्यादा प्यार करने लगता है जिनका व्यवहार उसके प्रति सहानुभूति पूर्वक होता है।
- **सहयोग (Co-operation)** – समाज व्यक्ति को सामाजिक बनाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि समाज के सहयोग की भावना व्यक्ति को सामाजिक बनाती है। जैसे-जैसे व्यक्ति को समाज से सहयोग प्राप्त होता है वैसे-वैसे वह भी समाज को सहयोग प्रदान करने लगता है। जैसे बीमारी में या दुर्घटना के समय समाज के लोग उसे सहयोग देते हैं तो वह भी आस-पड़ोस में कोई घटना घटने पर वहाँ सहयोग करता है। इससे उसकी सामाजिक प्रवृत्तियाँ संगठित हो जाती है।
- **निर्देश (Suggestion)** – सामाजिक निर्देशों एवं सुझावों का व्यक्ति के सामाजीकरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। समाज में व्यक्ति कोई कार्य करने से पहले समाज के लोगों से निर्देश या सुझाव देने पर वह कोई कार्य करता है। इस प्रकार हम देखते है कि निर्देश या सुझाव सामाजिक व्यवहार की दिशा का निर्धारित करते है।
- **अनुसरण या अनुकरण (Imitation)** – अनुकरण का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है वह परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन या अन्य सदस्यों को जैसा व्यवहार करते देखता है उसी का अनुकरण वह करने लगता है इसी प्रकार वह समाज में आस-पास के लोगों के व्यवहार भी अनुकरण करता है अर्थात् वर परिवार एवं समाज के लोग जिस प्रकार का व्यवहार करते है उसकी नकल करता है और समाज के अनुरूप बनने की कोशिश करता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि अनुकरण समाजीकरण का आधारभूत तत्व है।
- **आत्मीयता या आत्मीकरण (Identification)** – माता-पिता परिवार तथा आस-पड़ोस के लोगों के प्रेमपूर्ण व्यवहार एवं सहनुभूति से बालक में आत्मीयता की भावना पैदा होती है। जो

व्यक्ति उससे प्यार करते है सहयोग करते है तथा सहनुभूति रखते हैं वह उन्हें अपना समझने लगता है और वह उनके व्यवहार आचरण रहन-सहन बोल-चाल आदर्शों को अपनाने लगता है । इस प्रकार उसके व्यवहार में परिवर्तन आता है ।

- **पुरस्कार एवं दण्ड** – बालक के सामाजीकरण में पुरस्कार एवं दण्ड का महत्वपूर्ण स्थान है । जब बालक समाज आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करता है तो समाज में उसकी प्रशंसा होती है या पुरस्कार मिलता है और यदि वह इनके विपरीत कार्य करता है तो उसकी निंदा की जाती हैं दण्ड दिया जाता है । इस कारण से वह अपने ऐसे कार्यों को त्याग देता है जिनके करने से उसे दण्ड या निंदा मिले और वह समाज के अनुरूप कार्य करना सीख जाता है ।

3.1.10. सामाजीकरण के साधन

सामाजीकरण करने वाले कारक, तत्व या साधन सामाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया में समाज की विभिन्न संस्थाओं का योगदान रहता है । सामाजीकरण में सहायता प्रदान करने वाले प्रमुख कारक, तत्व या साधन निम्न प्रकार है –

- **परिवार** – सामाजीकरण का सबसे प्रमुख महत्वपूर्ण साधन परिवार है बच्चे का परिवार में जन्म होता है और वह विद्यालय जाने के पूर्व तक उसका सामाजीकरण परिवार में होता है । किम्बल यंग के अनुसार, "समाज के अन्द सामाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन है । बालक का जन्म परिवार में होता है और उसका प्रारंभिक विकास परिवार में होता है परिवार में ही वह खाना-पीना, उठना-बैठना चलना-फिरना, बोलना, कपड़े पहनना, पूजा करना आदि कार्यों को सीखता है । परिवार में ही वह समाज के नियमों का प्रारम्भिक एवं व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करता है । परिवार में वह, प्रेम, सहयोग, दया, क्षमा, त्याग, सहनशीलता, और कर्तव्य परायणता आदि सामाजिक गुणों को सीखता है । व्यक्ति जीवन परिवार में रहता है और परिवार समाज की एक इकाई है अत: परिवार सामाजीकरण का सबसे अधिक स्थायी साधन है । परिवार के सदस्य, माता-पिता, भाई-बहिन, दादा-दादी, चाचा-चाची से बालक अच्छा-बुरा उचित-अनुचित, सही-गलत आदि का ज्ञान प्राप्त करते है । परिवार के सहयोगी एवं भावात्मक वातावरण का अनुकूल प्रभाव बालक के सामाजीकरण पर पड़ता है जबकि अपराधी विकृत विघटित परिवारों का बालक के सामाजीकरण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है ।
- **विद्यालय (School)** – बालक के सामाजीकरण का दूसरा प्रमुख साधन विद्यालय है । यह सामाजीकरण का एक औपचारिक साधन है । विद्यालय बालक को उसकी सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराता है । यहाँ उसे समाज के मूल्य एवं मान्यताओं के विषय में जानकारी दी जाती है और

उसे उनके अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित किया जाता है। विद्यालय में सामाजीकरण के लिए विभिन्न गतिविधियों का आयोजन किया जाता है वे इस प्रकार है –

- विद्यालय में सामूहिक कार्य जैसे साफ-सफाई, नाटक, केम्प का आयोजन किया जाता है जिससे उनमें आपस में सहयोग की भावना विकसित होती है।
- प्रार्थना, सुविचार से उनमें मूल्यों का विकास होता है।
- एन.जी.जी एन.एस.एस से सहयोग एवं अनुशासन का विकास होता है।
- जन अभियान, जैसे साफ-सफाई निरक्षरता स्वास्थ्य जागरुकता अभियान सहयोग की भावना को विकसित करते है।
- खेल कूद सांस्कृतिक आयोजन, से उनमें प्रतिस्पर्धा एवं सांस्कृतिक की जानकारी मिलती है।
- राष्ट्रीय त्यौहार मनाने से देशभक्ति, साहस, त्याग आदि गुण विकसित होते है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि विद्यालय समाज का एक छोटा रूप होता है इसमें विभिन्न जाति वर्ग भाषा प्रान्त के छात्र एक साथ रहकर एक दूसरे के व्यवहार को सीखते है और उनका सामाजीकरण होता है।

- **आस-पड़ौस एवं संगी-साथी** – बालक के सामाजीकरण में उसके आस-पड़ौस और संगी साथी का भी प्रभाव पड़ता है अत: ये भी सामाजीकरण के साधन या कारक है। बालक परिवार से निकलकर अपने आ-पड़ौस संगी-साथ्झी के संपर्क में आता है। उनके साथ उठता-बैठत है खेलता है बात करता है लड़ता है सहयोग करता है उसके घर आता जाता है उसके रीति रिवाज समझता है सीखता है पड़ोस ही उसको अच्छी या बुरी संगति प्रदान करता है। अच्छी संगति उसका विकास एवं बुरी संगती उसके पतन का कारण बनती है। आस-पड़ौस के लोग अच्छे सभ्य हो तो बालक का सामाजीकरण उचित रूप से तीव्र गति से होता है।
- **जाति** बालक के सामाजीकरण का एक प्रमुख साधन जाति है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति की रीतियाँ, परम्पराये मूल्य और आदर्श सीखता है । इसी कारण प्रत्येक जाति के बालकों का सामाजीकरण भी अलग-अलग होता है। यदि हमारे संविधान के अनुसार कोई वर्ग भेद नहीं है परन्तु कुछ जातियाँ अपने आप को उच्च समझती है। जिसके कारण इन जातियों के बालकों में अहम या अभिमान की भावना पैदा हो जाती है। तथा दूसरी जाति के बालकों में हीनता की भावना आ जाती है जो समाजीकरण के लिए अच्छा नहीं है।

- **समुदाय** – प्रत्येक समुदाय की अपने रीति-रिवाज, प्रथाएँ, परम्पराएँ एवं मान्यताएँ होती है जो बालक को सामाजीकरण में सहायक होती है। समुदाय में मनाये जाने वाले तीज त्यौहार, उत्सव, एवं अन्य सामाजिक क्रियाओं में भाग लेकर बालक का सामाजीकरण होता है।
- **उत्सव** – विभिन्न उत्सव में सम्मलित होकर व्यक्ति में आपसी सहयोग, संस्कृति का ज्ञान होता है जिससे उसका सामाजीकरण होता है।
- **आर्थिक संस्थाएँ** - आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को विभिन्न व्यवसायिक संघो से सम्बन्धित करती है। इन संस्थाओं के द्वारा प्रतिस्पर्धा, सहयोग, सहकारिता, समायोजन आदि के सिद्धांतों को सीखकर समाज से अनुकूलन करना सरल हो जाता है। मार्क्स एवं वेबलेन के अनुसार, "आर्थिक संस्थाएँ ही व्यक्ति के जीवन व सामाजिक ढाँचे को निर्धारित करती है। आर्थिक जीवन की सफलता आज के युग में सामाजीकरण की सफलता की सबसे महत्वपूर्ण कसौटी समझी जाती है।''
- **धार्मिक संस्थाएँ** – व्यक्ति के जीवन में धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है। धार्मिक संस्थाएँ व्यक्ति में पवित्रता, शांति, न्याय, सदचरित्रता नैतिकता जैसे गुणों का विकास करती है धार्मिक प्रवचन पाप-पुण्य, स्वर्ग-नकर धारणा लोगों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करना सिखाती है।
- **राजनैतिक संस्थाएँ** – राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को कानून शासन अनुशासन से परिचित कराकर तथा व्यक्ति को उसके अधिकार एवं कर्तव्यों की जानकारी प्रदान करती है जिससे वह एक कुशल नागरिक बनना है।
- **सांस्कृतिक संस्थाएँ** – सामाजीकरण की प्रक्रिया में सांस्कृतिक संस्थाएँ जैसे साहित्य आकदमी, नाटक-मण्डली, क्लब आदि के माध्यम से व्यक्ति अपनी संस्कृति प्रथाओं, परम्पराओं, साहित्य, कला आदि से जुड़ता है। जिससे उसके व्यक्तित्व का संतुलित विकास होता है।

3.1.11. बालक के सामाजीकरण में बाधक तत्व

मैसलो (Maslow) के अनुसार बालक के सामाजीकरण में बाधक तत्व इस प्रकार है –

- **बाल्य कालीन परिस्थितियाँ** – बचपन में माता-पिता का प्यार न मिलना, माता-पिता का आपस में झगड़ा, पक्षपात, अनुचित दण्ड विधवा माँ, असुरक्षा आदि बालक में सामाजीकरण में बाधा उत्पन्न करती है।
- **सांस्कृतिक परिस्थितियाँ** – सामाजीकरण में जाति, धर्म, वर्ग, कुरीतियाँ, पूर्वधारणाएं बाधा उत्पन्न करती है।

- **तत्कालीन परिस्थितियाँ** – कभी-कभी तत्कालीन परिस्थितियाँ भी सामाजीकरण में बाधा उत्पन्न करती है जैसे कठोरता, अमान, ईर्ष्या अन्याय आदि।
- **अन्य परिस्थितियाँ** – शारीरिक हीनता विकलांगता, निर्धनता, असफलता, शिक्षा की कमी, आत्म-विश्वास का अभाव तथा आत्म निर्भरता की कमी आदि भी सामाजीकरण में बाधा उत्पन्न करती है।

3.1.12. सारांश

इस इकाई में हमने पढ़ा कि समाजीकरण क्या है ? सामाजीकरण की विशेषताएँ एवं उद्देश्य क्या है सामाजीकरण से क्या लाभ है सामाजीकरण की प्रक्रिया कैसे होती है। सामाजीकरण कितने प्रकार का होता है एवं उसके सिद्धांत कौन-कौन से है। सामाजीकरण के साधन क्या है ? एवं सामाजीकरण में बाधक तत्व कौन-कौन से है।

3.1.13. बोध प्रश्न

- समाजीकरण क्या है ? समझाये
- समाजीकरण की मुख्य विशेषताएँ बताइये
- वयस्क समाजीकरण किसे कहते है।
- समाजीकरण के सिद्धांत कौन –कौन से है ?
- समाजीकरण प्रक्रिया को ? समझाइये
- समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार की भूमिका को स्पष्ट कीजिये
- सामाजीकरण के प्रकार कौन-कौन से है ?
- सामाजीकरण के बाधक तत्व कौन-कौन से है ?
- कूले के सामाजीकरण के सिद्धांत को समझाइये ?
- पुरस्कार एवं दण्ड से हम कैसे सामाजीकरण कर सकते है।
- सामाजीकरण की आवश्यकता क्यों/क्या है ?
- बिना सामाजीकरण के रहना सम्भव है अपने विचार रखिएं।

3.1.14. कठिन शब्द

सामाजीकरण, सामाजीकरण के साधन, समाजीकरण में बाधक तत्व

3.1.15. संदर्भ ग्रंथ सूची

- बैल, रेबेर्ट. आर. (1962). द *सोशियोलॉजी ऑफ एडुकेशन ए सोर्स बुक*. होमेवूड: द डोरसे प्रैस. 19
- मिश्रा, उमा. (2014). *शिक्षा का समाजशास्त्र*. इलाहाबाद: अनुभव पब्लिशिंग हाउस.
- रूहेला, सत्यपाल. (2012). *भारतीय शिक्षा का समाजशास्त्र*. जयपुर: राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
- रमन, बिहारी. लाल. (2012). *शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत*, मेरठ: रस्तोगी पब्लिकेशन्स.
- एगर, बेन. (1978). *वेस्टर्न मार्क्सिज्म – एवं इंट्रोडक्शन*. गुडईयर. सांता मोनिका कालिफ.
- एल्फ्रड, रॉबर्ट. आर. एण्ड फ्रेडलेंड, रोजर. (1985). *पावर्स ऑफ थ्योरी: कैपिटलिज्म,* द स्टेट एंड *ईमोक्रेसी*. कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस.

इकाई-2 : परिवार: अर्थ, प्रकार्य एवं नवीन प्रवृत्तियां

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य

3.2.1. प्रस्तावना

3.2.2. परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

3.2.3. परिवार की प्रमुख विशेषताएं

3.2.4. परिवार का उत्पत्ति सिद्धांत

3.2.5. परिवार का समाजशास्त्रीय महत्व

3.2.6. परिवार के प्रकार्य

3.2.7. परिवार की नवीन प्रवृत्तियां

3.2.8. सारांश

3.2.9. बोध प्रश्न

3.2.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.2.0. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात हमारे विद्यार्थियों को परिवार की संरचना के विषय में कई प्रकार की जानकारियां प्राप्त होगी :-

1. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी परिवार को अवधारणात्मक एवं संरचनात्मक दोनों सन्दर्भों में समझमेक सक्षम सकेंगें।
2. समाज एवं मानव जीवन में परिवार की क्या भूमिका है इसके विषय में समझ विकसित होगी।
3. परिवार की सार्वभौमिकता मालिक संस्थागत स्वरूप के विषय में ज्ञानवृद्धि होगा।
4. परिवार किस प्रकार अस्तित्व में आया होगा?इस पर विभिन्न-विभिन्न विद्वानों के मतों के संदर्भ में जानकारी मिलेगी।
5. परिवार किस प्रकार मानव जाति के लिए आवश्यक है? इस विषय पर संपूर्ण दृष्टि मिलेगी। **6.** परिवार संस्था में हो रहे नवीन परिवर्तनों एवं इनके कारणों के विषय में ज्ञानवर्धन होगा।
6. इस तथ्य के विषय में भी जानकारी मिलेगी कि किस प्रकार परिवारिक व्यवस्था सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है।

7. इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात विद्यार्थी पारिवारिक विघटन की समस्या को समझ पाएंगे और इस संरचना को पुनर्जीवित करने का प्रयास भी करेंगे।

3.2.1. प्रस्तावना-An Introduction

मानव इतिहास में परिवार प्राचीनतम सामाजिक समूह होने के साथ-साथ प्राथमिक समूह में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है।सामाजिक संरचना में परिवार की केंद्रीय स्थिति है।परिवार वास्तव में मानव जीवन व समाज की आधारभूत इकाई है।परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है इस पर ही प्रत्येक समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। परिवार संतान उत्पत्ति द्वारा समाज के लिए नवीन सदस्यों की भर्ती करता है जो मृत व्यक्तियों के रिक्त स्थान की पूर्ति करते रहते हैं और इसप्रकार समाज की निरंतरता बनाए रखते हैं,घर में मृत्यु और अमृत्व का सुंदर समन्वय हुआ है। परिवार मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है।इस दृष्टि से परिवार सार्वभौमिक व सर्वकालिक संस्था रही है। प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक,पूर्व का हो या पश्चिम का,परिवार पाया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक संस्था रही है।व्यक्ति जन्म से ही परिवार का सदस्य बन जाता है।परिवार ही मुख्यतः उसका सामाजिकरण करता है,उसे सामाजिक प्राणी बनाता है व समाज को समर्पित कर देता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक साधारणतः व्यक्ति परिवार का सदस्य बना रहता है इसलिए इसे मानव का एक लघु समुदाय भी कहा जा सकता है। मैकाइवर और पेज ने बतलाया है कि सभी प्राथमिक समूह में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार सबसे महत्वपूर्ण संस्था है।परिवार समाज को कई रूपों में प्रभावित करता है।पारिवारिक परिवर्तन संपूर्ण सामाजिक संगठन में प्रतिध्वनित होते हैं।मानव समाज में असंख्य रूप में अवतरित होने तथा परिवर्तनों के मध्य अपनी निरंतरता और स्थायित्व को बनाए रखने की क्षमता है। ऐसी महत्वपूर्ण संस्था का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

3.2.2. परिवार का अर्थ एवं परिभाषा (Family- Meaning & Definition)

परिवार की परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। डॉ प्रभु ने डनलेप के विचारों को संबोधित करते हुए लिखा है कि"परिवार की मनमाने ढंग से परिभाषा करने के अतिरिक्त सार्वभौमिक ढंग से परिभाषा करना असंभव सा है।यह सत्य है कि इसके स्वरूपों में से एक प्रसिद्ध स्वरूप में, एक पुरुष और एक स्त्री अपने संयुक्त बच्चों सहित आते हैं जो अपने बच्चों की अवयस्कता की अवधि में एक ही निवास स्थान पर साथ साथ रहते हैं लेकिन इसके भी अनेक रूप भेद हैं। अतः बिना बच्चों वाले परिवार होते हैं या गोद लिए हुए बच्चों वाले परिवार होते हैं।ऐसे भी परिवार होते हैं जिनमें पुरुष का स्त्री और बच्चों से पृथक से निवास स्थान होता है या दादा-दादी, चाचा- चाची,पोते-पोती सदस्य होते हैं,जिसमें एक से अधिक पत्नी या पति अथवा दोनों होते हैं या जिसमें विधवा माता और उसके बच्चे होते हैं या जिसमे एक माता और उसके गोद लिए हुए बच्चे होते

हैं।स्पष्ट है कि परिवार के इन विविध रूपों को एक ही परिभाषा में समाविष्ट करना बड़ा कठिन कार्य है फिर भी यह सर्वदा समाज की मूलभूत व मौलिक इकाई रही है। मर्ड पिक्चर हां राजेश जीक ने तो 250 से अधिक परिवारों का अध्ययन करके यह पाया की किसी भी समाज ऐसा नहीं था जिसमें परिवार रूपी संस्था अनुपस्थित हो।वर्गिस और लॉक ने लिखा है कि" एक परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के संबंधों में एक-दूसरे से बंधे रहते हैं,जो एक गृहस्थी का निर्माण करते हैं, जो पति-पत्नी,पिता-माता,पुत्र-पुत्री और भाई- बहन की निजी सामाजिक भूमिका में,एक-दूसरे के साथ अंतः क्रिया और अन्तःसंचार करते रहते हैं और जो एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं और उसे बनाए रखते हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि"परिवार एक ऐसा समूह है जो सुनिश्चित और स्थाई यौन संबंधों द्वारा परिभाषित किया जाता है,जो बच्चों के प्रजनन एवं पालन पोषण के लिए अवसर प्रदान करता है।इसमें सम्पशर्विक अथवा सहायक संबंधी भी हो सकते हैं, लेकिन इसका निर्माण पति-पत्नी के साथ रहने और बच्चों के साथ मिलकर एक विशिष्ट इकाई बनने से होता है।"

जूकरमेन लिखा है कि"एक परिवार समूह पुरुष स्वामी,उसकी स्त्री या स्त्रियों और उनके बच्चों से मिलकर बनता है और कभी-कभी इसमें एक या अधिक अविवाहित पुरुष भी सम्मिलित होते हैं।" बिसेन्ज और बिसेन्ज के अनुसार"परिवार की परिभाषा एक दृष्टिकोण से यह की जा सकती है कि एक स्त्री बच्चों के सहित और एक पुरुष उनके देख-रेख हेतू।"

मरडाक ने लिखा है कि"परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और प्रजनन विशेषताओं के रूप में पाया जाता है।इसमें दोनों लिंगों के व्यस्क सम्मिलित होते हैं जिनमें से कम से कम दो में सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत यौन संबंध होता है और यौन संबंधों में बंधे इन व्यस्को के स्वयं के अथवा गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"

आगबर्न और निमकॉफ का कथन है कि "परिवार, बच्चों सहित अथवा बच्चों रहित पति और पत्नी या अकेले एक पुरुष अथवा स्त्री और बच्चों का लगभग एक स्थाई संघ है।"

लूसी मेयर के अनुसार,"परिवार एक गृहस्थ समूह है अपने माता पिता और संतान साथ साथ रहते हैं इनके मूल रूप में दंपत्ति और उनकी आती है।"

किंग्सले डेविस के अनुसार,"परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो रक्त के आधार पर एक दूसरे से संबंधित हैं तथा जो एक दूसरे के संबंधी भी हैं।"

इन परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि परिवार के अर्थ के संबंध में विद्वानों में एकमत नहीं है फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसे सामान्य निवास,आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर अन्य समूहों से अलग किया जा सकता है।परिवार के सदस्यों में से साधारणतः दो विषमलिंगी व्यक्तियों में यौन संबंध पाए जाते हैं और इनके स्वयं के अथवा गोद लिए हुए बच्चों के पालन-पोषण की निश्चित और स्थाई व्यवस्था होती हैं।

3.2.3. परिवार की प्रमुख विशेषताएं (Characteristics of Family)

विश्व के सभी समाजों में पारिवारिक संगठन की विविधता के बावजूद भी कुछ सामान विशेषताएं पाई जाती हैं।मैकाइवर और पेज नहीं ऐसी 8 प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है जो भारतीय परिवार में भी पाई जाती हैं:-

1.सार्वभौमिकता (Universality)- सभी छोटे-बड़े संगठनों में परिवार सबसे अधिक सार्वभौम है।यह सभी समाजों और सभी कालों में पाया जाता रहा है। प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में कभी ना कभी, किसी न किसी परिवार का सदस्य अवश्य रहा है और भविष्य में भी रहेगा।सामाजिक विकास के प्रत्येक स्तर पर परिवार पाया जाता है।प्रत्येक प्रकार के समाज में चाहे वह सभ्य,आधुनिक, नगरीय हो या असभ्य,आदिम,ग्रामीण हो परिवार का अस्तित्व सदैव रहा है।

2.भावात्मक आधार (Emotional Basis) - परिवार के सदस्य भावात्मक आधार पर एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित रहते हैं।पति-पत्नी के बीच घनिष्ठ प्रेम और संतानकामना की पाई जाती है। माता-पिता में अपनी संतान के प्रति वात्सल्य और त्याग की भावना पाई जाती है।संतान में अपने माता-पिता और परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति प्रेम,श्रद्धा, आदर के भाव पाए जाते हैं।परिवार के संगठन को बनाए रखने में इन भावनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है।

3.रचनात्मक प्रभाव (Formative Influence) - परिवार व्यक्ति का प्रथम सामाजिक पर्यावरण है।परिवारका बच्चों के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।यह बालकों के चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा उनके जीवन को संस्कारित करता है।उन पर अमिट छाप डालता है और उनके व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान देता है । कूले ने परिवार को मानव स्वभाव का संवर्धनगृह (Nursery)कहा है।

4. सीमित आकार (Limited Size) - प्राणीशास्त्रीय दशाओं के कारण परिवार का आकार बहुत ही सीमित होता है।इसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त वास्तविक या काल्पनिक संबंधी पाए जाते हैं।इसमें वही बच्चे सदस्यों के रूप में होते हैं जिनका जन्म परिवार में हुआ हो या जिन्हें गोद लिया गया हो।इस दृष्टि से सामाजिक संरचना के औपचारिक संगठनों में परिवार सबसे छोटा है।

5. सामाजिक संरचना में केंद्रीय स्थिति (Nuclear Position in the Social Structure) - सभी सामाजिक संगठनों में परिवार की केंद्रीय स्थिति है।संपूर्ण सामाजिक संरचना का आधार परिवार ही है।सरल प्रकार के समाज और अधिक विकसित पितृसत्तात्मक समाजों की सामाजिक संरचनाओं का निर्माण पारिवारिक इकाइयों के आधार पर ही हुआ है।आज के कुछ जटिल आधुनिक समाज में परिवार के इस कार्य में कमी आई है परंतु उसमें भी स्थानीय समुदाय परिवारों के संयुक्त रूप अथवा संघ हैं।

6. सदस्यों का उत्तरदायित्व (responsibility of the Members) - परिवार के सदस्यों में उत्तरदायित्व की असीमित भावना पाई जाती है। संकट के समय व्यक्ति अपने समाज व राष्ट्र हित के लिए कार्य करता है,बलिदान की ओर अग्रसर होता है परंतु परिवार में वह सदैव ही एक-दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को

निभाता रहता है परिवार के लिए वह बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहता है।परिवार के प्रति उत्तरदायित्व की भावना की जड़े मनुष्य के स्वभाव में गहरी बैठी हुई हैं।उत्तरदायित्व की यह भावना परिवार के संगठन और स्थायित्व के लिए अत्यंत आवश्यक है।

7. सामाजिक नियंत्रण (Social Control) - यद्यपि संसार के विभिन्न भागों में परिवार के अलग-अलग रूप दिखलाइए पड़ते हैं तथापि प्रत्येक स्थान पर परिवार सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में कार्य करता है।व्यक्ति और समाज दोनों के दृष्टिकोण से ही परिवारिक एक आधारभूत और लाभदायक संगठन है।इसको बनाए रखने के लिए अनेक सामाजिक निषेध कानून पाए जाते हैं।

8. परिवार की अस्थाई और अस्थाई प्रकृति (Its Permanent and Temporary Nature)- एक समिति के रूप में परिवार कुछ सदस्यों का समूह है।इन सदस्यों से मिलकर परिवार का निर्माण होता है।इनके परिवार से अलग हो जाने से परिवार का एक समिति के रूप में अस्तित्व समाप्त हो जाता है।विवाह द्वारा पति-पत्नी मिलकर परिवार की रचना करते हैं और उनकी मृत्यु हो जाने पर अथवा एक दूसरे को छोड़ देने या तलाक देने पर परिवार भंग हो जाता है।इस रूप में परिवार की प्रकृति परिवर्तनशील या अस्थाई है परंतु जब हम परिवार पर एक संस्था के रूप में विचार करते हैं पाते हैं कि इनकी प्रकृति स्थाई है,यह निरंतर बना रहता है।पुराने सदस्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं और नवीन सदस्य इसमें प्रवेश करते रहते हैं।एक संस्था के रूप में परिवार के नियम और कार्यप्रणाली बने रहते है, चलते रहते हैं जो परिवार को स्थायित्व प्रदान करते हैं।

9. वैवाहिक संबंध (Marital Relationship)- वैवाहिक संबंध के आधार पर ही परिवार का जन्म होता है। यह संबंध समाज द्वारा स्वीकृत होता है,इसी संबंध के आधार पर यौन संबंध और संतान उत्पत्ति होती हैं। जिन्हें समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होता है।वर्तमान समय में हिंदू समाज में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों मेंपति-पत्नी को तलाक देने का अधिकार दिया गया है फिर भी इन सभी कारणों के बावजूद परिवार के सार्वभौमिक संरचना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है।

10.आर्थिक व्यवस्था (Economic System)- प्रत्येक परिवार की साधारण रूप से कुछ आर्थिक आवश्यकता होती हैं जिसके माध्यम से सदस्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करते हैं और अपना जीवन निर्वाह करते हैं।बिना आर्थिक व्यवस्था के परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण संभव नहीं हो सकता।

11. वंश नाम (Nomenclature)- प्रत्येक परिवार में वंश नाम को चलाए रखने की एक व्यवस्था पाई जाती हैं।वंश नाम को निश्चित करने के संबंध में कुछ नियम पाए जाते हैं।परिवार में प्रत्येक बच्चे को किसी नियम के आधार पर उपनाम और वंश नाम प्राप्त होता है।एक परिवार के सदस्य पीढ़ी दर पीढ़ी इसी उपनाम से पहचाने जाते हैं।वंश नाम मातृवंशीय भी हो सकता है और पितृवंशी भी। भारत में खासी, गारो तथा नायर आदि जनजातियों में वंश नाम माता के नाम पर जबकि अन्य जनजातियों और हिंदुओं में अधिकतर पिता के नाम पर चलते हैं ।

12. सामान्य निवास स्थान (Common Habitation)- प्रत्येक परिवार के लिए एक सामान्य निवास स्थान या घर भी होता है। जहां सभी सदस्य रहते हैं।यह निवास मातृस्थानिक भी हो सकता है जैसे- नैयर,खासी, गारो और पितृस्थानिक भी जैसे हिंदू धर्म,मुस्लिम धर्म।कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति-पत्नी में से कोई भी एक दूसरे कोई परिवार में ना जा कर जाकर अपना नया निवास बना कर रहने लगते हैं। **डॉ एस सी दुबे** ने ऐसे परिवारों को नव-स्थानिक (Neolocal Family) कहा है। आजकल भारत में ऐसे परिवारों के उदाहरण आसानी से देखने को मिल सकते हैं।

3.2.4. परिवार का उत्पत्ति सिद्धांत (Origin of Family)

परिवार की उत्पत्ति से संबंधित प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं:-

1.शास्त्रीय सिद्धांत(Classical Theory)- प्लेटो तथा **अरस्तु** ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया।इन विद्वानों की मान्यता था कि आरंभ से ही समाज और सामाजिक समूह में पुरुषों का आधिपत्य रहा है, और उनकी प्रधानता पाई जाती रही है।उन्होंने परिवार की उत्पत्ति में भी पुरुषों को ही प्रमुख कारण माना है। इसी आधार पर इन लोगों ने बतलाया है कि प्रारंभ में पितृसत्तात्मक परिवार ही थे।सर हेनरीमेन भी सन 1861 में सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन कर इन्हीं विचारों का समर्थन किया था।प्राचीन ग्रीक,रोमन एवं यहूदी इतिहास पितृसत्तात्मक परिवारों के तथ्य की पुष्टि करते हैं परंतु निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता परिवार का यही मौलिक स्वरूप था।

2. यौन साम्यवाद का सिद्धांत (Theory of Sex Communism)- मानव जीवन की प्रारंभिक अवस्था में यौन साम्यवाद पाया जाता था।लुईस मॉर्गन,फ्रेजर,ब्रिफाल्ट की मान्यता थी कि प्रारंभ में परिवार नहीं पाए जाते थे।उस समय यौन संबंधों पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं था कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ या कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष के साथ स्वछन्दतापूर्वक यौन संबंध स्थापित कर सकते थे,जिसे यौन साम्यवाद कहा गया। इस अवस्था में परिवार नाम की कोई संस्था नहीं थी। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने अपने मत के समर्थन में कुछ आदिम जातियों में पाए जाने वाले ऐसे रीति-रिवाजों का उल्लेख किया है जिनसे प्रतीत होता है कि प्रारंभ में यौन सम्बन्धि नियंत्रण काफी कम था।रीति-रिवाजों में,त्योहारों के अवसर पर पत्नियों का आदान-प्रदान,सत्कार के लिए पत्नियों को प्रस्तुत करना इत्यादि यौन संबंधी स्वच्छंदता के उल्लेख मिलते हैं।इस सिद्धांत के प्रवर्तक नातेदारी की वर्गीय व्यवस्था से भी काफी प्रभावित थे।इसके अंतर्गत एक ही आयु समूह के सभी व्यक्तियों को पिता माता बहन अथवा पुत्री के रूप में संबोधित किया जाता था। इन सब तथ्यों के आधार पर कहा गया है कि जीवन के आरंभिक काल में एवं साम्यवाद पाया जाता था।

3. एक विवाह का सिद्धांत (Theory of Monogamy)- इस सिद्धांत का प्रतिपादन वेस्टरमार्क ने पुस्तक"हिस्ट्री ऑफ़ ह्यूमन मैरिज"में किया है।उनकी मान्यता है कि एक विवाह ही परिवार ही थे।डार्विन का कहना है कि परिवार का जन्म पुरुष के आधिपत्य और निशा की भावना के कारण हुआ है। वेस्टरमार्क ने

डार्विन के इस कथन का पूर्ण समर्थन करते हुए बतालाया है कि पुरुष स्त्रियों पर उसी प्रकार का अधिकार रखना चाहता था जिस प्रकार अपनी संपत्ति पर।अपनी शक्ति के आधार पर पुरुष स्त्री पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल भी हुआ।फिर भी जब इस एकाधिकार को इन दोनों के हितों में आवश्यक समझा गया तो समाज द्वारा इन्हें मान्यता प्राप्त हो गई और इसने प्रथा का रूप ग्रहण कर लिया।आगे चलकर यही विवाह के रीति बन गई है।वेस्टरमार्क ने वाले पूछ वाले बंदरों, गोरिल्ला, चिमपांजीआदि का अध्ययन करके यह बतलाया है कि इनमें भी एक विवाह प्रथा का ही प्रचलन हैं। जुकरमेंन तथा मैलिनोवस्की ने भी वेस्टरमार्क के इस सिद्धांत का समर्थन किया है।मैलिनोवस्की ने लिखा है कि एक विवाह एक विवाह का सच्चा स्वरूप है,रहा था और रहेगा।

4. मातृसत्तात्मक सिद्धांत (Theory of Matriarchy)- ब्रिफाल्ट ने वेस्टरमार्क के सिद्धांत की कटु आलोचना करते हुए अपनी पुस्तक 'दी मदर्स' में परिवार की उत्पत्ति के संदर्भ मे मातृसत्तात्मक सिद्धांत प्रस्तुत किया व बतलाया कि आरंभ में यौन संबंधों के बहुत अधिक निश्चित नहीं होने के कारण बालक अपनी माता को ही जानते थे।माता और संतान के संबंधों में ही घनिष्ठता पाई जाती थी व पारिवारिक जीवन में पिता का स्थान महत्वपूर्ण नहीं था।वह शिकार की तलाश में अक्सर घर से बाहर ही रहता था और परिवार का भार माता पर ही होता था ऐसी दशा में पारिवारिक क्षेत्र में माता के अधिकार और बढ़ गए और मातृसत्तात्मक परिवारों का जन्म हुआ। ब्रिफाल्ट ने कहा है कि माता और उनकी संतान की आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा की निरंतर अवश्यकता ने परिवार को जन्म दिया। परिवार के अंदर स्त्री के वर्चस्व के कारण इसका स्वरूप मातृ सत्तात्मक होता गया। ब्रिफाल्ट ने लिखा है कि परिवार का आरंभिक रूप मातृसत्तात्मक ही था बाद में कृषि विकास और पुरुष प्रभुत्व के कारण पितृसत्तात्मक परिवारों का उदय हुआ।उन्होंने आदिम जातियों में पाए जाने वाले मातृसत्तात्मक परिवारों के उदाहरण के आधार पर बतलाया है कि इन परिवारों में ना केवल स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर है बल्कि कहीं-कहीं तो पुरुष से भी ऊंचा है।टायलर नामक विद्वान ने इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए बतलाया है कि आरंभ में परिवार का स्वरूप मातृसत्तात्मक था बाद में मातृ सत्तात्मक व पितृसत्तात्मक व्यवस्था का मिश्रित रूप प्रारंभ हुआ और अंत में पितृसत्तात्मक परिवारों की स्थापना हुई आज भी यथावत है।

5. उद्विकासीय सिद्धांत (Evolutionary Theory)- उद्विकासीय सिद्धांत परिवार की उत्पत्ति का एक प्रमुख सिद्धांत है। जिसको सर्वप्रथम बैकोफेन (Bachofen) ने प्रतिपादित किया।तत्पश्चात लुईस मॉर्गन (Lewis Morgn) ने इसे विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया। हरबर्ट स्पेंसर, मैकलेनन, लुबोक, टायलर इत्यादि इस सिद्धांत के समर्थक रहे हैं।बैकोफेन ने अपने सिद्धांत को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है। इनका मानना है कि मनुष्य का आरंभिक पारिवारिक जीवन निम्न स्तर का था। उस समय यौन संबंधी निश्चित नियमों का अभाव था। इस समय पति-पत्नी के संबंधों में शिथिलता के कारण वास्तविक पिता का पता लगाना बहुत कठिन था।बच्चों को समूह के सभी पुरुष सदस्यों का संरक्षण प्राप्त था।इस समय पारिवारिक संबंधों में काफी

ढीलापन था हर यही स्थिति परिवार की आरंभिक अवस्था मानी जाती हैं धीरे-धीरे परिवार का रूप स्पष्ट होने लगा और मनुष्य को जीवन यापन के लिए कठोर परिश्रम और प्रकृति के साथ घोर संघर्ष करना पड़ा ऐसी स्थिति में स्त्रियों के लिए कठिन परिश्रम करना मुश्किल माना जाता था और इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक औरआर्थिक कारणों से समाज में स्त्रियों का महत्व एवं संख्या घटता चला गया परिणामस्वरूप बहुपति विवाही परिवारों की उत्पत्ति हुई। कालांतर में विकास के साथ मानव समाज के समक्ष अलग तरह की सामाजिक आर्थिक चुनौतियां हैं तो उससे लड़ने के लिए उन्हें स्त्री की आवश्यकता हुई होगी जिससे समाज में इनका महत्व एवं संख्या दोनों ही बढ़ा होगा। बदलती हुई दशाओं में एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह करने लगा और समाज में बहुपत्नी विवाही परिवार की उत्पत्ति हुई। बहुपत्नी विवाह के दोषों का पता लगने के साथ साथ समाज में लोकतांत्रिक और समानतावादी विचार भी पनपने लगे थे। मानवतावादी मूल्यों के आने के कारण विकास के साथ-साथ स्त्रियों की स्थिति में भी सुधार हुआ परिणामस्वरूप ऐसे सामाजिक- संवैधानिक कानून बने जिनके अंतर्गत एक पुरुष केवल एक स्त्री से विवाह कर सकता है अतः समाज में एक विवाही परिवार बनने लगे।वर्तमान समय में परिवार का यह स्वरूप सर्वाधिक है।

लुइस मार्गन परिवार के उद्वविकास के निम्नलिखित पांच चरणों का वर्णन किया है। उन्होंने कहा कि सर्वप्रथम **रक्त संबंधी परिवार** (Consanguineous Family)का जन्म हुआ।मानव जीवन के आरंभिक काल में ऐसे परिवार पाए जाते थे जिन पर यौन नियंत्रण नहीं था,कोई भी किसी के साथ ऐसे संबंध स्थापित कर सकता था। इस अवस्था में भाई-बहनों तक में विवाह होते थे। द्वितीय चरण में **समूह परिवार** (Punaluan Family) बने। एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह दूसरे किसी परिवार के सभी बहनों के साथ होता था और इनमें से प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति था प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी मानी जाती थी। इन परिवारों को समूह परिवार कहा जाता था।तीसरे चरण में **सीनडोस्मीयन परिवार** (Syndyasmian Family) की स्थापना हुई।इसमें एक पुरुष का विवाह यद्यपि एक ही स्त्री के साथ होता था फिर भी वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों के साथ यौन संबंध रख सकता था। चतुर्थ चरण **पितृसत्तात्मक परिवार** (Patriarchal Family) का विकास हुआ ।इस समय पिता सर्वशक्तिशाली हो गया,उसके अधिकार बढ़ गए हैं और एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने लगा। पंचम चरण में एक विवाही परिवार की स्थापना हुई। ऐसे परिवार उद्वविकास की अंतिम अवस्था है।आधुनिक समय में इन्हीं परिवारों का सर्वाधिक महत्व है।

6. चक्राकार सिद्धांत (Cyclical Theory)- इस सिद्धांत के प्रतिपादकों में स्पैंगलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। **सोरोकिन, लिप्ले, जिमरमैन** इस सिद्धांत के अन्य प्रतिपादक रहे हैं। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के दृष्टिकोण से घड़ी के पेंडुलम का उदाहरण दिया गया है।जिस प्रकार घड़ी का सूई एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है फिर अपने मूल स्थान पर आता है।यह क्रम चलता ही रहता है।ठीक इसी प्रकार से पारिवारिक प्रतिमान एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ते हैं और पुनः अपने मूल स्थान पर लौट आते हैं तत्पश्चात फिर से परिवार का उद्विकास आरंभ हो जाता है।सोरोकिन ने पारिवारिक विकास के इतिहास में तीन

अवस्थाओं का उल्लेख किया है और कहा है कि जीवन जहाँ से आरंभ होता है पुनः वही लौट आता है।परिवार की उत्पत्ति और विकास के संबंध में उन्होंने अपने इसी विचार को महत्व दिया है।लिप्ले नामक विद्वान ने फ्रेंच पारिवारिक विकास के इतिहास को 6 भागों में विभक्त किया है और परिवार की उत्पत्ति के इस चक्राकार सिद्धांत का समर्थन किया है।

7. मूलन-लियर का सिद्धांत (Theory of Muller-Lyer)- इन्होंने परिवार के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है।

1. गोत्र काल (Clan Period)

2. परिवार काल (Family Period)

3. व्यक्तिगत काल () उन्होंने प्रथम दो कालों को 3-3उपकालो में कालों में बांटा है –

1. आरंभिक काल

2. मध्यकाल

3. उत्तर काल तीसरा काल व्यक्तिगत काल का अभी प्रारंभ हुआ है। मूलर लियर की मान्यता है कि अब एक नवीन तांत्रिक परिवार की स्थापना हो रही है और प्रजातांत्रिक परिवार का आरम्भ हुआ है।उन्होंने लिखा है कि जहां राज्य शक्तिशाली होता है वहां परिवार कमजोर होता है और स्त्रियों की स्थिति अच्छी होती हैं और जहां राज्य कमजोर होता है वहां परिवार शक्तिशाली होता है और स्त्रियों की स्थिति तुलनात्मक रूप से कमजोर होती है।

3.2.5. परिवार का समाजशास्त्रीय महत्व (Sociological Importance of Family)

प्राथमिक समूह में परिवार का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि यह समाज की आधारभूत इकाई है।परिवार से ही समाज का विस्तार हुआ है इस पर ही समाज का जीवित रहना निर्भर करता है। परिवार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बिसेन्ज एवम बिसेन्ज ने लिखा है कि परिवार एक मौलिक और सार्वभौमिक संस्था है। समाज के प्रमुख इकाई होने के कारण परिवार का महत्व अत्यधिक है।इसके महत्व का पता इसी बात से चलता है कि संसार के सभी मनुष्य किसी न किसी परिवार के सदस्य हैं।एक मनुष्य का संपूर्ण जीवन परिवार में ही व्यतीत होता है। परिवार ही बच्चों की उत्पत्ति के रूप में समाज की निरंतरता को बनाए रखता है,उनका सामाजिकरण करता है ताकि वे समाज के अन्य संगठनों में पूर्ण रूप से भाग ले सकें और अपने स्वयं के परिवारों का निर्माण कर सके।परिवार वास्तव में समाज की प्राथमिक और मौलिक इकाई है क्योंकी सर्वप्रथम परिवार में ही बालक जन्म लेता है,उसका पालन-पोषण होता है जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। समाज की रचना परिवार के संगठन द्वारा ही होती है अर्थात परिवार समाज का विकास प्राथमिक समूह अर्थात परिवार के विकास द्वारा हुआ है।

परिवार समाज का सूक्ष्म स्वरूप है। समाज में जो कुछ होता है,संक्षिप्त रूप से परिवार में पाया जाता है।परिवार के तीन प्रमुख प्राथमिक कार्य है बच्चों का उत्पादन,उनका पालन-पोषण, पारस्परिक सहायता एवं सहानुभूति।बालक परिवार में ही जन्म लेता और उसका पालन पोषण होता है परिवार में ही बालक में मानवीय गुणों का विकास होता है तथा उसके व्यक्तित्व पर परिवार के वातावरण की छाप लग जाती हैं। परिवार ही व्यक्ति का समाजीकरण करता है परिवार में ही बालक व्यवहार करना सीखता और उसके चरित्र का गठन होता है,जीवनपयोगी शिक्षा प्राप्त करता है,परिवार में ही बालक को माता- पिता बच्चों के साथ रहने से पारस्परिक संबंधों का ज्ञान होता है। परिवार का आधार भावात्मक है।परिवार में सदस्यों को अपनी मूल प्रवृत्तियों एवं भावनाओं को पूर्ण करने का अवसर प्राप्त होता है। परिवार की सामाजिक संरचना में केंद्रीय स्थिति हैं।परिवार में सदस्यों को ऐसी शिक्षा मिलती है जो समाज में कार्य करते समय उनके लिए उपयोगी सिद्ध होती है।व्यक्ति परिवार में बहुत से कार्य करता है बहुत कुछ सीखता है अपने अनुभव द्वारा अनेक सामाजिक कार्यों को पूर्ण करने में सफलता भी प्राप्त करता है इसलिए कहना उचित है कि परिवार समाज के प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है।

3.2.6. परिवार के प्रकार्य (Functions of Family)

परिवार समाज की मौलिक एवं सार्वभौमिक संस्था है। इस संबंध में इलियट और मैरिल ने लिखा है कि,"संस्था के विविध कार्य होते हैं, संभवत समस्त संस्थाओं में परिवार अत्यंत विविध कार्य वाली संस्था है।" परिवार के कार्यों को दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है प्रथम श्रेणी में सार्वभौमिक कार्य आते हैं जो प्रत्येक समाज और संस्कृति में पाए जाते हैं। यह कार्य परिवार के मौलिक और सार्वभौमिक कार्य कहलाते हैं तथा दूसरी श्रेणी में वह कार्य आते हैं जो विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न होते हैं तथा जिनका निश्चय वहां की सांस्कृतिक परंपराओं के अनुसार होता है। यह कार्य परिवार के परंपरागत कार्य कहलाते हैं।

● **परिवार के मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य (Basic & universal Functions of Family)-** परिवार इन्हीं मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्यों की वजह से अपने अस्तित्व को आज तक बनाए हुए हैं यह कार्य निम्नलिखित है:-

1. प्राणीशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)- परिवार के प्राणी शास्त्रीय कार्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

(क) यौन इच्छाओं की पूर्ति

(ख) संतान की उत्पत्ति

(ग) बच्चों का पालन पोषण

2. मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological Functions)- परिवार का मनोवैज्ञानिक कार्य व्यक्ति के स्वस्थ विकास के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है।परिवार अपने सदस्यों में प्रेम तथा सद्भावना को बढ़ाता है,उन्हें मानसिक शांति प्रदान करता है।बालकों को वात्सल्य, मनोवैज्ञानिक सुरक्षा,माता-पिता,भाई-बहनतथा अन्य सदस्यों के साथ रहते हुए प्राप्त होता है। परिवार का मानसिक सुरक्षा प्रदान करने वाला पर्यावरण बच्चों में विश्वास जागृत करता है। रॉबर्ट फ्रास्ट का कथन पूर्णता उपयुक्त है कि घर वह स्थान है जहां जब भी जाना चाहे तो वह आपको आने देंगे।परिवार अपने सदस्यों को पारस्परिक स्नेह प्रदान करता है।परिवार के इस कार्य के संदर्भ में इलियट और मैरिल ने लिखा है कि स्नेह कार्य की सुरक्षात्मक तथा उपयोगितावादी विशेषता भी है।विवाहित पुरुष अविवाहित पुरुषों की तुलना में अधिक स्वास्थ्य प्रतीत होते हैं।

●परिवार के परंपरागत कार्य (TraditionalFunctions of Family)-

परिवार के परंपरागत कार्य संस्कृति एवं परंपरा द्वारा निश्चित होते हैं । विभिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न परंपराओं के कारण अलग-अलग समाजों में परिवार के इन कार्यों में विभिन्नता पाई जाती हैं। ये परंपरागत कार्य निम्न है:-

प्राणीशास्त्रीय कार्य (Biological Function)-

1. सदस्यों की शारीरिक रक्षा

2.भोजन एवं वस्त्र की व्यवस्था

3.निवासस्थान की व्यवस्था

आर्थिक कार्य (Economic Function)-

परिवार का एक महत्वपूर्ण आर्थिक इकाई के रूप में भी कार्यकर्ता रहा है। परिवार के सदस्य उत्पादन कार्य में योग देते हैं। धन का अर्जन करते हैं और आवश्यकता अनुसार धन को खर्च भी करते हैं। एक परिवार का एक वंशानुगत व्यवसाय रहा है लेकिन वर्तमान समय में एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य प्रस्थिति वश विभिन्न प्रकार के कार्य करने लगे हैं जो इस प्रकार हैं-

1.श्रम विभाजन (Division of Labour)- लिंग तथा आयु के आधार पर प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रस्थिति होती है।सदस्यों की प्रस्थिति के आधार पर श्रम विभाजन किया जाता है।पिता धन उपार्जन का कार्य करता है तथा परिवार का प्रधान माना जाता है।भोजन पकाना,बालकों का पालन पोषण और घर की व्यवस्था करने का कार्य स्त्री करती है। परिवार में बच्चों तथा वृद्धों के कार्य उनकी योग्यता अनुसार अलग-अलग होते हैं।

2.आर्थिक क्रियाओं का केंद्र (Center of Economic Activities)- परिवार आरंभ से ही उत्पादन का प्रमुख केंद्र रहा है।कृषि युग से लेकर वर्तमान तक इसने आर्थिक दृष्टि से उत्पादक इकाई के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।आज भी ग्रामीण भारत में परिवार के सभी सदस्य किसी न किसी रूप में खेती के कार्य में योग देते हैं।इसीप्रकार परिवारों के विभिन्न सदस्य गृह उद्योग में लगे हुए हैं।

3.आय एवं संपत्ति का प्रबंध (Management of Income & Property)- प्रत्येक परिवार का आय का एक साधन अवश्य होता है जिसके माध्यम से सदस्यों की आवश्यकता की पूर्ति होती है।

4. उत्तराधिकारी का निर्धारण (Inheritance of Determination)- परिवार संपत्ति के उत्तराधिकारी का भी निर्णय करता है।वह निश्चित करता है कि पारिवारिक संपत्ति का स्वामी कौन होगा।साधारण पितृवंशी परिवारों में लड़कों और मातृवंशी परिवारों में लड़कियों में संपत्ति का विभाजन होता है।

सामाजिक कार्य (Social Functions)-

1. प्रस्थिती निश्चित करना (To Determine Status)- प्रत्येक परिवार की समाज में एक निश्चित प्रस्थिति होती है और इस प्रस्थिति के अनुसार ही व्यक्ति की समाज में स्थिति होती है।प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करना होता है।परिवार ही भोजन, वैवाहिक एवं जीविकोपार्जन संबंधी निर्णय लेता है।एक साधारण परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका उस व्यक्ति से भिन्न होगी जो निम्न स्तर वाले परिवार में जन्म लेगा।

2. समाजीकरण(Socialization)- यह हर व्यक्ति का समाजिककरण करने वाली सर्वाधिक महत्व वाली संस्था है। परिवार में सदस्यों में पारस्परिक घनिष्ठ और स्थाई संबंध पाए जाते हैं।व्यक्ति इन ही परिवारों में रहता हुआ प्रेम, ज्ञान, अनुभव, संस्कार, समाज के मानदंड इत्यादि सीखता है जो इसके समाजीकरण और व्यक्तित्व के विकास में अपूर्व योग देता है।परिवार ही बालक को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाता है।सदरलैंड तथा एडवर्ड ने परिवार की ही समाजीकरण की सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति माना है।

3. मानव सभ्यता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाना (Prepetuation of Human Achievement from One Generation to another)- मानव सभ्यता का इतिहास बहुत पुराना है। सदियों से मानव जो कुछ सीखता एवं अनुभव प्राप्त करता आ रहा है वह सब कुछ परिवार और बच्चों को सिखा देता है।इस प्रकार आने वाली सभी पीढ़ियां पूर्वजों से प्राप्त संस्कारों को आगे आने वाली पीढ़ियों में देती हैं। इस प्रकार मानव सभ्यता एवं संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं जिससे समाज विकास में योगदान मिलता है।

4. सामाजिक नियंत्रण (Social Control) -प्राथमिक समूह के रूप में परिवार सामाजिक नियंत्रण का मुख्य साधन है। परिवार के सदस्यों का पर नियंत्रण रहता है।बड़ों की आज्ञा का पालन करना,छोटो को प्रेम व सुरक्षा प्रदान करना परिवार के सदस्य अपना कर्तव्य समझते हैं।परिवार अपने सदस्यों में सद्गुण एवं नागरिकता का गुण भरता है जिसका प्रभाव सामाजिक क्षेत्र पर भी पड़ता है और नियंत्रण में इससे सार्थक मदद भी मिलती है।

5.शिक्षात्मक कार्य (Educational Functions)- बच्चों की आरंभिक शिक्षा परिवार में ही होती है जिसका बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है।परिवार बालक के चरित्र निर्माण सामाजिक जीवन को सीखने का अतुलनीय स्रोत है। परिवार में बच्चा अनुकरण के द्वारा जो कुछ सीखता है उसी आधार पर उसका जीवन

बनता है तथा परिवार में ही इसमें आत्म त्याग,कर्तव्यपूर्ति,आज्ञा पालन,सहयोग, सामंजस्य आदि सामाजिक गुणों का विकास होता है।

6. मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational Functions)- परिवार अपने सदस्यों का मनोरंजन भी करता है यद्यपि सिनेमा, क्लब इस कार्य को छिनते जा रहे हैं फिर भी भारत जैसे देश में करोड़ों लोग व्यवसायिक मनोरंजन के इन साधनों का लाभ नहीं उठा पाते।ऐसी दशा में इनका मनोरंजन घर में ही होता है। परिवार बिना पैसे के ही स्वास्थ्य मनोरंजन की व्यवस्था करता है।

7. धार्मिक कार्य (Religious Functions)- परिवार धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का केंद्र हैं।यहां सदस्यों को धार्मिक उत्सव में भाग लेने से धार्मिक नियमों तथा विधियों और पाप पुण्य के भेद अपनेआप होता है। इस प्रकार यह धार्मिक संस्कार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को स्थानांतरित होते हैं जिससे इनका स्थायित्व समाज में बना रहता है।

परिवार के उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट है कि यह अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। परिवार बालक के समाजीकरण की एक अपूर्व समिति है। जन्म के बाद बालक परिवार में अपने माता-पिता एवं अन्य सदस्यों के साथ रहता है,संचार करता हुआ व्यवहार प्रतिमान और आचरण संहिता से परिचित होता है और विभिन्न सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया के आधार पर बालक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। मनोवैज्ञानिकों कि यह मान्यता है कि अपने व्यक्तित्व और चरित्र संबंधी सभी लक्षण अपने आरंभिक 5 वर्षों में प्राप्त कर लेता है और काल में वह परिवार में ही रहता है।इससे स्पष्ट है कि पारिवारिक पर्यावरण का बालक पर कितना गहरा मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रभाव पड़ता है।

3.2.7. परिवार की नवीन प्रवृत्तियां (New Trends of Family)

परिवर्तन एक सार्वभौमिक तथ्य है।समाज और उसका कोई भी अंग परिवर्तन के प्रभाव से नहीं बच सका।18 वीं सदी के अंत में यूरोप और भारत में 19 वीं सदी के प्रारंभ से औद्योगीकरण एवं नगरीकरण में वृद्धि हुई है,परिवार में अनेक परिवर्तन प्रारंभ हुआ । औद्योगीकरण से पूर्व परिवारिक एक उत्पादनशील इकाई था किंतु औद्योगीकरण होने पर उत्पादन कारखाने में होने लगा, एक परिवार के सभी सदस्य कारखानों में काम पर जाने लगे,जिससे बच्चों और परिवार की उपेक्षा हुई परंतु इससे परिवार की आर्थिक स्थिति थोड़ी अच्छी हुई। पिता का परिवार पर नियंत्रण कम हुआ,सदस्यों की स्वतंत्रता एवं व्यक्तिवादिता में भी वृद्धि हुई।औद्योगिकरण ने स्त्रियों को आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान की। उनके लिए समानता की मांग हुई। राज्य एवं उसके कार्यों के विस्तार ने भी परिवार के कई कार्यो को अपने अधिकार में ले लिया जिससे परिवार का महत्व कम हुआ।नगरीकरण के कारण लोग गांव छोड़कर शहर में जाने लगे जिसके कारण संयुक्त परिवार का विघटन हुआ और एकाकी परिवारों की स्थापना हुई।आधुनिक चिकित्सा एवं औषधि विज्ञान ने भी परिवार कल्याण कार्यक्रम में सहयोग देकर परिवार का आकार छोटा किया। पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति, व्यक्तिवादी विचार,

यातायात के नवीन साधनों एवं विभिन्न प्रकार के संघों एवं संगठनों के निर्माण ने भी परिवार की संरचना एवं प्रकारों को प्रभावित किया जिसके कारण परिवार में अनेक परिवर्तन हुए है। कई नवीन पारिवारिक प्रतिमान उभरकर सामने आ रहे हैं।परिवार के कई कार्य अन्य समितियों द्वारा किए जा रहे हैं जिसके कारण इनके पास बहुत थोड़े कार्य शेष रह गए हैं। वर्तमान में परिवार संक्रमण की स्थिति से गुजर रहे हैं और अभी तक कोई सर्वस्वीकृत पारिवारिक प्रतिमान दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं। आधुनिक समय में परिवार में निम्न लिखित नवीन प्रवृतियां परिवर्तन रहे हैं:- 1.परिवार के आकार में ह्रास(Decline in the size of Family)-परिवार का आकार बहुत छोटा हो गया है।आजकल परिवार में पति- पत्नी उनके अविवाहित बच्चे पाए जाते हैं।ऐसे परिवारों में स्वतंत्रता अधिक रहती है।आजकल तो संतानविहीन परिवार या फिर एक संतानवाला परिवार भी काफी मात्रा में पाए जा रहे हैं।फॉल्सम के अनुसार आजकल तो दो बच्चों का परिवार तो सामान्य आदर्श सा बनता जा रहा है।रहन-सहन के उच्च स्तर को बनाए रखने,अधिक बच्चों के पालन-पोषण के भार से बचने तथा संततिनिरोध के साधनों के उपलब्ध होने से परिवार का आकार घटता जा रहा है और सदस्यों की संख्या औसतन 4 से 5 तक रह गई है।

2. पितृसत्तात्मक अधिकार में कमी (Decline in Patriarcha Authority)- कुछ समय पूर्व तक परिवार में पिता सर्वोपरि था।पुरुष का अपनी पत्नी तथा बच्चों पर असीमित अधिकार होता था पर अब स्थिति बदल चुकी है।कानून व राज्य द्वारा पत्नी व बच्चों को अनेक अधिकार प्रदान किए जा चुके हैं और पिता के अधिकार को को सीमित कर दिया गया ह। पारिवारिक समस्याओं पर विचार करते समय पत्नी व बच्चों की राय को भी महत्व दिया जाने लगा है।आधुनिक परिवार अधिनायकवादी आदर्शों से प्रजातांत्रिक आदर्शों की ओर बढ़ रहे हैं।

3. अस्थाई परिवार (Instable Family)- आधुनिक परिवार की भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता पहले से काफी बढ़ चुकी है।परिवार के आकार के छोटा होने तथा विभिन्न प्रकार की व्यवसायिक सुविधाओं के उपलब्ध होने से एक परिवार का एक स्थान और एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जाना सुगम से हो गया है,परिणामस्वरूप मूल परिवार,रिश्तेदारों और पड़ोसियों का ऐसे परिवारों पर कोई नियंत्रण नहीं रहता व आचरणसंबंधी परंपरागत आदर्श प्रभावहीन हो जाते हैं।पति- पत्नी और बच्चे का काफी समय तक परिवार से दूर रहते के कारण भावनात्मक जुड़ाव कम हो जाता है।ये स्थिति परिवार को संगठित रखने में बाधा होती है।इसके अलावा विवाह विच्छेद को कानूनी मान्यता प्रदान हो जाने से कभी भी परिवार के टूटने का परिस्थितियां उपस्थित हो सकती हैं। अतः इन सब परिवर्तनों के रनपरिवार की अस्थाई प्रकृति में वृद्धि हुई है।

4. घर के महत्व में कमी (Less importance of Home structure)- आधुनिक परिवार के लिए घर का कोई विशेष आकर्षण एवं महत्व नहीं रहा है केवल सोने एवं भोजन करने के समय व्यक्ति घर पर रहता है।बाकी समय व अन्य स्थानों पर व्यतीत करता है।इससे सदस्यों में अन्तःक्रिया की मात्रा घट गई है। इनके

अलावा व्यवसायिक गतिशीलता मे वृद्धि के कारण और नए रोजगार के कारण लोग घर बदलते रहते हैं। ऐसी स्थिति में घर के प्रति व्यक्ति का भावनात्मक आकर्षण खत्म हो जाता है।

5. नातेदारी के महत्व में कमी (Decline in Importance of Kinship)- आधुनिक समय में नातेदारी का महत्व कम होता जा रहा है तथा पारस्परिक संबंधों में तीव्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। कुछ समय पूर्व तक व्यक्ति विभिन्न संबंधियों के साथ घनिष्ठ रूप से संबंधित था परन्तुआज व्यक्तिवादिताइतनी बढ़ चुकी है कि व्यक्ति अपने माता-पिता और भाई-बहन तक की चिंता नहीं करते।पहले व्यक्ति की प्रस्थिती का निर्धारण बहुत कुछ सीमा तक और नाते रिश्तेदारों की प्रस्थिति के आधार पर ही होता था परंतु आजकल इसका निर्धारण कि स्वयं की योग्यता के आधार पर होता है इसलिए वर्तमान में नातेरिश्तेदारी का महत्व काफी घट गया है।

6. स्त्रियों के अधिकार में वृद्धि (Increased rights of Women)- अब समसत्तात्मक परिवार बनते जा रहे है। ऐसे परिवारों में पति और पत्नी की समान सत्ता होती है। पारिवारिक निर्णयों में दोनों की समान भूमिका होती है इस बदली भी परिस्थिति का मूल कारण स्त्रियों को अनेक सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों का प्राप्त होना है।शिक्षा के प्रसार ने स्त्रियों के अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तथा सामाजिक-राजनैतिक चेतना जागृत करने में योग दिया है।आजकल स्त्रियों ने नवीन भूमिकाएं ग्रहण की हैं।स्त्रियों के पूर्ण विकास के कारण घर में पनपने वाले पारस्परिक संबंधों एवं परिवार की संरचना में काफी परिवर्तन आया है।

7. परिवार के परिवर्तित कार्य (Changing Functions of Family)- अपनी स्वीकृत प्रस्थिति और भूमिका से संबंधित जो कार्य परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा किए जाते थे उनमे परिवर्तन आ चुका है। परम्परागत परिवार अपने सदस्यों के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक, मनोरंजनात्मक, सुरक्षात्मक, स्नेह प्रदान करना जैसे कार्य करता था यद्यपि यह कार्य आज भी परिवार द्वारा अवश्य किए जाते हैं परंतु इनमें से बहुत से कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा किया जाने लगा है जिससे इनका महत्व काफी कम हो गया है।इन कार्यों को करने के लिए अनेक प्रकार की द्वितीयक संस्थाएं पनप चुकी हैं जो परिवार की मूलभूत कार्यों को कर रही हैं अतः जिन आवश्यकताओं के लिए व्यक्ति को परिवार पर निर्भर रहना पड़ता था वह अब समाप्त हो रहा है जिससे परिवार का प्राथमिक संस्था के रूप में महत्व भी समाप्त हो रहा है।

8. विवाह के धार्मिक स्वरूप में परिवर्तन आने से विवाह संस्था में बहुत सारे परिवर्तन होने लगे तथा इसमें प्रेम विवाह,वयस्कविवाह,तलाक अंतरजातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह इत्यादि के कारण इसतरह के मूल्य पनपने लगे जिसने अप्रत्यक्ष रूप से पारिवारिक संरचना को प्रभावित किया है क्योंकि इन सभी परिवर्तनों से स्त्रियों की स्थिति सशक्त हुई और जिससे परिवार के स्वरूप में संरचनात्मक परिवर्तन आया है।

3.2.8.सारांश(Conclusion)

परिवार का मनुष्य और समाज दोनों के लिए अत्यंत महत्व है क्योंकि यह व प्राथमिक समूह है।मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है।समाज के लिए कार्यकर्ताओं को भी तैयार करता है। प्राथमिक समूह होने के कारण सामाजिक नियंत्रण का कार्य भी करता है। परिवार अपने सदस्यों पर नियंत्रण रख कर समाज में व्यवस्था बनाए रखने में योग देता है। परिवार मानव सभ्यता और संस्कृति को पीढ़ी अंतरित करने का कार्य करता है बालक अपने माता पिता के द्वारा समाज के उन सभी अनुभव को में प्राप्त है केवल कुछ वर्षों में ही सीख लेता है । परिवार में ही बालक आज्ञा पालन सेवा त्याग ने संयोगिता दिखता है यहां वह अपने समाज के नैतिक शिक्षा ओं के संबंध में ज्ञान प्राप्त करता है अपने धर्म और संस्कृति से परिचित होता है उन सभी शक्तियों का विकास मुख्यतः परिवार में ही होता है उच्च विचारों का बीजा रोपण करते हैं अतः जब तक उत्तम परिवार नहीं होंगे तब तक उत्तम समाज नहीं होगा।

3.2.9. बोध प्रश्न (Question)

1. परिवार को परिभाषित कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए?
2. परिवार की संरचनात्मक व्याख्या कीजिए एवं एवं इसमें हो रहे आधुनिक परिवर्तनों के विवेचना कीजिए?
3. परिवारिक एक सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक मौलिक संस्था रही है। इस कथन को समझाइए।
4. परिवार की प्रकार्यात्मक भूमिका का विस्तृत वर्णन कीजिए?
5. परिवार की उत्पत्ति के कौन-कौन से सिद्धांत हैं? व्याख्या कीजिए।

3.2.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पाण्डेय, एस.एस. (2009). *समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: टाटा मेग्रा हिल.
2. पाण्डेय, गया. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा प्रकाशन.
3. शर्मा, जी.एल. (2012). *समाजशास्त्र*. आगरा: उपकार प्रकाशन.
4. गुप्ता, एल.एम. एवं शर्मा, डी.डी. (2005). *समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन.

इकाई- 3 वर्ग : अर्थ, प्रकार एवं विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

3.3.0. उद्देश्य
3.3.1. प्रस्तावना
3.3.2. वर्ग: अर्थ एवं परिभाषा
3.3.3. सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ
3.3.4. क्या वर्गों का निर्धारण केवल आर्थिक आधार पर ही होता है ?
3.3.5. वर्ग विभाजन के आधार
3.3.6. सामाजिक वर्गों की संरचना
3.3.7. वर्ग एवं जाति में अंतर
3.3.8. सारांश
3.3.9. बोध प्रश्न
3.3.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

3.3.0. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिन्दुओं में सक्षम बनाना है –

- वर्ग व्यवस्था के अर्थ और विभिन्न विद्वानों द्वारा किए गए पारिभाषिक विश्लेषण के बारे में समझ विकसित कर पाने में।
- भारतीय समाजों में सामाजिक वर्ग की विशेषताओं को जान पाने में।
- 'क्या वर्ग आर्थिक आधारों पर ही समझे जा सकते हैं' के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पाने में।
- भारत में सामाजिक वर्ग की संरचना तथा वर्ग विभाजन के प्रमुख आधारों के बारे में समझ विकसित कर पाने में ।
- वर्ग तथा जाति के अंतर को जान पाने में।

3.3.1. प्रस्तावना

प्राचीन काल में भारतीय समाज में वर्ण और जाति ही स्तरीकरण के प्रमुख आधार थे, परंतु वर्तमान समय में भारत में संस्तरण का प्रमुख आधार जाति और वर्ग है। आधुनिक समय में भारतीय संदर्भ तथा वैश्विक संदर्भ में अनेक परिवर्तन अत्यंत तेजी से आ रहे हैं तथा इन परिवर्तनों के कारण आद्योगीकरण, नगरीकरण, मशीनीकरण, तथा शासन व्यवस्था आदि हैं। इसके अलावा भारत में परिवर्तन लाने की दृष्टि से पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति भी जिम्मेदार है। इन सभी कारकों ने सम्मिलित रूप से वर्ग व्यवस्था को भारत में जन्म दिया है। यदि वरतमन भारत का अध्ययन गहनता से किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि जाति व्यवस्था पहले की तुलना कमजोर हुई है तथा उसके स्थान पर वर्ग व्यवस्था का उदय तथा विकास हो रहा है। प्रशासक वर्ग, व्यापारी वर्ग, मजदूर वर्ग, कृषक वर्ग, पूंजीपति वर्ग, अध्यापक वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग आदि प्रकार क वर्ग देखने को मिलते हैं। वर्ग की इस नवीन व्यवस्था ने भारत की परम्परात्मक व्यवस्था को नवीन आयाम प्रदान किए तथा इससे नवीन मूल्यों तथा आदर्शों के पैदा होने का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

3.3.2. वर्ग: अर्थ एवं परिभाषा

वर्ग संभवत सभी समाजों में पाये जाते हैं, शायद ही विश्व का कोई समाज हो जहां वर्ग व्यवस्था नहीं पायी जाती है। वर्ग आधुनिक समाजों में स्तरीकरण का प्रमुख आधार है। इस संबंध में कार्ल मार्क्स का कथन है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परंतु अधिक स्पष्ट तौर से मुख्यतः वह एक 'वर्ग प्राणी' है। आदि काल से ही समाज का स्तरीकरण बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, स्त्री-पुरुष, साक्षर-निरक्षर, अमीर-गरीब, शिक्षक, विद्यार्थी, व्यापारी, मजदूर आदि वर्गों के रूप में किया जाता रहा है।

वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति समान होती है। हमारे समाज में अनेक प्रकार की सामाजिक प्रस्थितियाँ पायी जाती हैं, ठीक उसी प्रकार से हमार समाज कई प्रकार के वर्गों से भरा हुआ है। जब जन्म के अलावा किसी आधार पर व्यक्तियों अथवा समूहों को विभिन्न भागों में वर्गीकृत किया जाता है तो इस प्रकार के प्रत्येक समूह को सामाजिक वर्ग की संज्ञा प्रदान की जाती है।

- **बाटोमोर** के शब्दों में,

  "वर्ग तथ्यतः समूह होते हैं। वे अपेक्षाकृत बंद नहीं होते हैं, उन्मुक्त होते हैं। निर्विवाद रूप से उनका आधार आर्थिक है, लेकिन वे आर्थिक समूहों से अधिक हैं। वे औद्योगिक समाजों के लक्षणिक समूह होते हैं।"

  वस्तुतः जन्म के आधार के अलावा यदि किसी भी आधार पर समूहों का वर्गिकरण किया जाता है तो वह वर्गिकरण वर्ग के आधार पर ही रहता है। हालांकि यह मतभेद का विषय है कि वर्ग के निर्धारण का आधार आर्थिक है अथवा सामाजिक-सांस्कृतिक। बाटोमोर द्वारा प्रस्तुत किए गई इस व्याख्या के इतर अन्य विद्वानों ने वर्ग की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है –

- **आगबर्न** के अनुसार,

  "सामाजिक वर्ग एक ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति एक दिये हुये समाज के अनुरूप समान होती है।"

- **मैकाइवर तथा पेज** लिखते हैं कि

  "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से अलग किया जा सकता है।"

- **जिसबर्ट** का मत है कि

  "एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा श्रेणी होता है, जिसकी समाज में एक विशेष स्थिति रहती है। यह विशिष्ट स्थिति ही अन्य समूहों के साथ उसके सम्बन्धों का निर्धारण करती है।"

  ये परिभाषाएँ वर्ग को सामाजिक आधार से व्याख्यायित करने का प्रयास करती हैं तथा समान सामाजिक प्रस्थिति को ही वर्ग के निर्धारण में उपयोगी मानती हैं। अध्यापक, व्यापारी, नौकरशाह, किसान आदि समूहों की सामाजिक प्रस्थिति भिन्न-भिन्न होती है इसीलिए ये अलग-अलग प्रकार के वर्गों में तब्दील हो गए। इसके अलावा कुछ अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं जो वर्ग निर्धारण में आर्थिक आधारों को प्रमुखता देते हैं –

- **कार्ल मार्क्स** बताते हैं कि जीविकोपार्जन के अनेक साधनों के कारण मनुष्यों का समूह अनेक वर्गों में बंट जाता है। उनके अनुसार एक सामाजिक वर्ग को उसके उत्पादन के साधनों तथा संपत्ति के वितरण के साथ होने वाले संबंधों के संदर्भ में ही विश्लेषित किया जा सकता है।

- **मैक्स वेबर** के अनुसार,

  "एक समूह को वर्ग के रूप में तभी परिभाषित किया जा सकता है जब उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हों, यहाँ तक कि यह समूह वस्तुओं के अधिकार या आमदनी कि सुविधाओं से संबन्धित आर्थिक हितों द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाज़ारों की अवस्थाओं द्वारा निर्धारित हो।"

- **गुल्डनर** के शब्दों में,

  "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों अथवा परिवारों का योग है जिनकी आर्थिक स्थिति लगभग एक जैसी होती है।"

  सामाजिक तथा आर्थिक आधारों के अलावा वर्ग की व्याख्या सांस्कृतिक आधारों पर भी की गई है। इस प्रकार की व्याख्या में प्रमुख विद्वान गिंसबर्ग, लेपियर, ओल्सन आदि हैं –

- **गिंसबर्ग** के अनुसार,

  "एक सामाजिक वर्ग आइस एव्यक्तियों का समूह होता है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, विचार, व्यवहार, भावना, मनोवृत्ति, जीवनशैली आदि में एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक-दूसरे से समानता का अनुभव करते हैं तथा स्वयं को एक समूह के रूप में स्वीकार करते हैं।"

3.3.3. सामाजिक वर्ग की विशेषताएँ

यहाँ भारतीय संदर्भ में सामाजिक वर्ग की विशेषताओं को प्रस्तुत किया जा रहा है तथा इन विशेषताओं के माध्यम से हम वर्ग की अवधारणा को और भी सूक्ष्मता से समझ पाने में सफल हो सकेंगे –

1. संस्तरण व्यवस्था

समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है तथा इस श्रेणी में कुछ वर्ग उच्च, कुछ मध्यम तथा कुछ निम्न स्थान पर रहते हैं। उच्च वर्ग के सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा शक्ति अन्य वर्ग के सदस्यों की अपेक्षा में अधिक रहती है, परंतु उनके सदस्यों की संख्या अन्य वर्गों की तुलना में कम ही होती है। इसके विपरीत निम्न वर्ग के सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा शक्ति कम रहती है तथा उनके सदस्यों की संख्या अन्य की यूलना में ज्यादा होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा तथा शक्ति में कम होने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति भी कमजोर रहती है तथा इसी कारणवश वे अनेक प्रकार की सुविधाओं के लाभ प्राप्त कर पाने से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि वर्ग कि संरचना में नीचे का भाग (निम्न वर्ग) काफी बड़ा तथा ऊपर का भाग (उच्च वर्ग) काफी छोटा होता है। अतः कहा जा सकता है कि वर्ग की संरचना एक पिरामिड की भांति होती है। भारतीय परिदृश्य में लगभग 20 प्रतिशत लोग निम्न वर्ग से संबंधित हैं, जो गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करते हैं जबकि केवल लगभग 5 प्रतिशत लोग ऐसे हैं जो सभी प्रकार की सुविधाओं का लाभ लेते रहते हैं।

2. समान प्रस्थिति

एक वर्ग से संबंधित सभी लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है। हमारे समाज में प्रस्थिति को निर्धारित करने हेतु कई आधार उत्तरदाई होते हैं। यदि आर्थिक आधारों पर प्रस्थिति का निर्धारण होगा तो उन्हीं लोगों की सामाजिक प्रस्थिति उच्च होगी जिनका अधिक से अधिक संपत्ति पर आधिपत्य रहेगा। इसी प्रकार से यह शैक्षणिक आधार प्रस्थिति को निर्धारित करेगा तो वे लोग उच्च सामाजिक प्रस्थिति वाले होंगे जिनकी शैक्षणिक कुशलता तथा दक्षता अधिक होगी। अतः शिक्षित तथा अशिक्षित की सामाजिक प्रस्थिति क्रमशः उच्च तथा निम्न के रूप में होगी। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण किसी एक आधार पर नहीं किया जा सकता है इसके निर्धारण के लिए अनेक आयाम, जैसे – जाति, व्यवसाय, शिक्षा, संपत्ति आदि आवश्यक होते हैं।

3. सामान्य जीवन

समान्यतः एक वर्ग से संबंधित लोगों की जीवनशैली एक समान रहती है। उच्च वर्ग विभिन्न तरह के ऐशों-आराम वाले कार्यों में व्यस्त रहता है, मध्यम वर्ग संस्कृति, परम्परा, संस्कृति आदि को ही सुधारने व संभालने में लगा रहता है तथा निम्न वर्ग अपने अभावपूर्ण जीवन को बेहतर बनाने में ही परेशान रहता है।

4. सीमित सामाजिक संबंध

समान्यतः एक वर्ग अपने सामाजिक संबंधों को अपने लोगों तक ही सीमित रखता है। अन्य वर्गों से पृथकता बनाए हुये वर्ग अपने ही लोगों में से मित्र, जीवन-साथी, संबंधी आदि को तलाशने का प्रयास करता है। ऐसा इसलिए भी वर्ग के लिए आवश्यक रहता है क्योंकि वह एक जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि संबंधों में सहजता का अनुभव करता है। साथ ही ऐसा किसी भी वर्ग की व्यावहारिक उपयोगिता तथा अस्तित्व के लिए भी आवश्यक रहता है।

5. वर्ग-चेतना

समाज में बहुत सारे वर्ग पाये जाते हैं तथा प्रत्येक वर्ग में वर्ग-चेतना पायी जाती है, प्रत्येक वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा में भिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक वर्ग में उच्च अथवा निम्न अथवा समानता की भावना पायी जाती है। एक वर्ग से संबंधित लोगों के जीवन व्यवहार, खान-पान, सुविधाएं आदि समान रहते हैं तथा उनके बच्चों की समाजीकरण प्रक्रिया भी समान्यतः एक जैसी ही रहती है। इसी कारण एक वर्ग से संबंधित लोगों में अपने वर्ग के लोगों के लिए चेतना का जन्म होता है। यह वर्ग-चेतना उनके आपसी व्यवहारों के साथ साथ वर्गों के परस्परिक संबंधों का निर्धारण भी करती है। वर्ग चेतना ही वर्गों को अपने अधिकारों के प्रति सजग करती है तथा साथ ही अन्य वर्गों से प्रतिस्पर्धा करने हेतु उन्मुख भी करने का काम करती है। हम सभी आए दिन हड़ताल व मांगों को लेकर हो रहे आंदोलनों के बारे में अखबारों आदि में पढ़ते रहते हैं ये आंदोलन किसी संगठित हितों से संबंधित वर्ग द्वारा वर्ग-चेतना के आधार पर ही किए जाते हैं तथा इस प्रकार से वर्ग परस्परिक सहयोग की सहायता से अपने हितों की रक्षा करते हैं।

6. उच्च तथा निम्न की भावना

जाति व्यवस्था के समान ही वर्ग व्यवस्था में भी उच्च तथा निम्न कि भावना पायी जाती है तथा अपने वर्ग के प्रति उनमें 'हम' की भावना पायी जाती है। सम्पन्न तथा शासक वर्ग स्वयं को गरीब तथा शासित वर्ग से उच्च मानते हैं तथा ठीक यह ई धारणा गरीब व शासित वर्ग में भी पायी जाती है। गरीब व शासित वर्ग के लोग स्वयं को अमीर तथा शासक वर्ग से निम्न मानते हैं।

7. जन्म पर आधारित नहीं

यह कदापि आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति का जन्म जिस वर्ग में हो, उसकी मृत्यु भी उसी वर्ग में हो। किसी भी वर्ग की सदस्यता का निर्धारण व्यक्ति की शिक्षा, आय, व्यवसाय, संपत्ति, शक्ति, कुशलता

आदि पक्षों द्वारा होता है। इन पक्षों की सहायता अथवा अवहेलना से व्यक्ति अपने वर्ग को उच्च अथवा निम्न बनाने के लिए स्वयं ही जिम्मेदार रहता है।

8. पूर्ण रूप से अर्जित

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि वर्ग का निर्धारण जन्म के अनुरूप नहीं होता है अर्थात् यह अर्जित गुणों/तत्वों द्वारा संचालित व्यवस्था है। किसी भी वर्ग का व्यक्ति अपने अर्जित गुणों अथात् शिक्षा, शक्ति, संपत्ति आदि में वृद्धि कर उच्च वर्ग में शामिल हो सकता है।

9. मुक्त व्यवस्था

यह जाति व्यवस्था की भाँति बंद अथवा कठोर व्यवस्था नहीं होती है, अपितु इसमें व्यक्ति का संचरण एक वर्ग से दूसरे वर्ग हो सकता है। यह एक लचीली तथा मुक्त व्यवस्था होती है। एक निम्न वर्ग का व्यक्ति अपने परिश्रम तथा कुशलता की सहायता से उच्च वर्ग मेम शामिल हो सकता है तथा एक उच्च वर्ग का व्यक्ति अपने आलस व अकुशलता की वजह से निम्न वर्ग की परिधि में आ सकता है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति का जन्म जिस वर्ग में हुआ है वह जीवनपर्यंत उसी वर्ग का सदस्य रहे। उसकी सदस्यता समय तथा परिश्रम व कुशलता आदि के आधार पर उच्च अथवा निम्न हो सकती है।

10. वर्ग की वस्तुपरक विशेषता

समान्यतः प्रत्येक वर्ग की संरचना दूसरे वर्ग से पृथक प्रकृति पर आधारित होती है। वर्ग की भिन्नता तथा स्पष्ट पहचान हेतु कुछ विशिष्ट प्रकार की संरचनाएँ होती हैं, जैसे – मकान का प्रकार, मोहल्ले/कॉलोनी की प्रतिष्ठा, शैक्षणिक स्तर, बोल-चाल का तरीका, जीवनशैली आदि। प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न लोग पक्के व अच्छे मकानों में रहते हैं, प्रतिष्ठित व नामचीन कॉलोनी में रहते हैं, उनकी शैक्षणिक व आर्थिक स्थिति उच्च रहती है, व्यवहार, विचार तथा भाषा में वे काफी समृद्ध रहते हैं तथा उनकी जीवन शैली भी उत्कृष्ट प्रकार की होती है। जबकि निम्न वर्ग से संबंधित लोग कच्चे मकानों अथवा झोपड़ियों में रहते हैं, गंदी बस्तियों में उनके आवास स्थान रहते हैं, उनकी शैक्षणिक व आर्थिक स्थिति निम्न रहती है, व्यवहार, विचार, भाषा, जीवनशैली में भी वे गरीब रहते हैं। इस प्रकार से किसी वर्ग की बाहरी संरचनात्मक विशेषताओं के आधार पर भी उसे आसानी से पहचाना तथा दूसरे वर्ग से पृथक किया जा सकता है।

11. न्यून स्थिरता

वर्ग व्यवस्था में स्थिरता का प्रायः अभाव होता है अथवा अत्यंत कम स्थिरता पायी जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जिन पक्षों के आधार पर वर्गों का निर्धारण होता है वे पक्ष ही परिवर्तनशील होते हैं। शिक्षा, आय, संपत्ति, शक्ति आदि परिवर्तनशील पक्ष होते हैं, इनमें कभी भी परिवर्तन होना सामान्य है। इसके अलावा व्यक्ति कभी भी अपनी दक्षता तथा परिश्रम से एक वर्ग से दूसरे वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है

अर्थात् वर्ग एक परिवर्तनशील अवधारणा है। हालांकि इस परिवर्तनशीलता में भी कुछ समय की आवश्यकता रहती है, कुछ ही घंटों में ऐसा नहीं होता है।

12. उप-वर्ग

प्रत्येक वर्ग में बहुत से उप-वर्ग पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, मध्यम वर्ग में भी उच्च, मध्य तथा निम्न वर्ग पाये जाते हैं। ये सभी मध्य वर्ग के उप वर्ग हैं जिनमें विविध स्वरूपों में असमानता पायी जाती है। इसी प्रकार से धनी वर्ग में भी सभी लोग समान प्रस्थिति वाले नहीं होते हैं, उनकी प्रस्थिति में भी काफी अंतर रहता है।

13. जीवन-अवसर

जर्मन विद्वान मैक्स वेबर का मानना है कि एक वर्ग से संबंधित लोगों को जीवन अवसर तथा सुख-सुविधाएं भी समान मिलती हैं। एक गरीब वर्ग के व्यक्ति को मजदूरी अथवा शारीरिक श्रम करने एक तथा एक अमीर वर्ग को उद्योग अथवा कारख़ाना स्थापित करने के अवसर समान रूप से प्राप्त होते हैं।

14. अनिवार्यता

हम सभी इस बात से पूरी तरह से सहमत होंगे कि सभी समाजों में शिक्षा, संपत्ति, व्यवसाय, योग्यता आदि पक्षों में असमानता पायी जाती है। अतः इन भिन्नताओं के कारण समाज में अनेक समूहों का निर्मित होना स्वाभाविक है तथा ये समूह प्रायः सभी समाजों में उच्च अथवा निम्न के रूप में पाये जाते हैं। एक समान विशेषता तथा प्रस्थिति से संबंध समूह के लोग ही एक वर्ग को निर्मित करते हैं। अतः यह सर्वविदित रूप से निश्चित है कि वर्ग सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं।

3.3.4. क्या वर्गों का निर्धारण केवल आर्थिक आधार पर ही होता है ?

वर्ग की अवधारण से संबंधित अत्यंत महत्वपूर्ण व सहज प्रश्न यह है कि क्या वर्ग केवल आर्थिक आधारों पर ही निर्धारित किए जाते हैं? कार्ल मार्क्स जैसे समाजशास्त्रियों ने आर्थिक आधारों को ही वर्ग के निर्धारण में मूलभूत तथा अकेला आयाम माना है। मार्क्स के अनुसार वर्ग के निर्माण व निर्धारण में उत्पादन प्रणाली तथा उत्पादन के साधन उत्तरदायी होते हैं। जिन व्यक्तियों का उत्पादन के साधनों व प्रणाली पर आधिपत्य रहता है वे लोग ही पूंजीपति तथा अमीर वर्ग से संबन्धित रहते हैं तथा जिन लोगों का उत्पादन प्रणाली व उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य नहीं रहता है वे लोग अपना श्रम बेचकर जीवनयापन करने को विवश रहते हैं तथा श्रमिक और गरीब वर्ग में शामिल रहते हैं। हालांकि कार्ल मार्क्स ने एक तीसरे वर्ग; कृषक वर्ग की अवधारणा को भी प्रस्तुत किया है। किन्तु मार्क्स ने आर्थिक दृष्टि से केवल दो वर्गों को ही स्पष्ट किया है – बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग। ये दोनों वर्ग क्रमशः शोषक तथा शोषित वर्ग होते हैं। सर्वहारा वर्ग में वर्ग-चेतना के जन्म लेने के पश्चात वह इस शोषण के विरुद्ध आवाज उठाता है तथा बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध वर्ग

संघर्ष का संखनाद करता है। मार्क्स का मानना है कि अंततः सर्वहारा वर्ग इस वर्ग संघर्ष में विजयी होता है तथा एक नए वर्गविहीन राज्य की स्थापना होती है।

हालांकि इस इकाई के आरंभ में ही यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्ग की अवधारणा मात्र आर्थिक आधारों पर ही सीमित नहीं है। इसके निर्धारण में सामाजिक-सांस्कृतिक आधार भी उतने ही सहभागी हैं जितने कि आर्थिक आधार। बिसेंज तथा बिसेंज द्वारा मकान के प्रकार, पड़ोस, आय के स्रोत आदि आधारों को भी वर्ग के निर्माण में आवश्यक माना गया है। आधुनिक समाजों में व्यक्ति अपने उपयोग से अधिक विलासिता व दिखावे की वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित हुआ है तथा ये वस्तुएँ उसके जीवन व्यवहार तथा रहन-सहन को अभिव्यक्त करती हैं, जैसे – टेलीविज़न, मोबाइल, रेडियो, फ्रिज, ए.सी. कर, मोटर गाड़ी आदि। ये सभी वर्ग के निर्धारण में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं।

उक्त वर्णित भौतिक वस्तुओं के इतर व्यक्ति के स्वनिर्धारित मापदंड भी आवश्यक होते हैं। अर्थात् व्यक्ति स्वयं को किस वर्ग में रखना चाहता है तथा किस वर्ग से दूर रहना चाहता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी शिक्षक से पूछा जाय कि वह किस वर्ग में स्वयं को रखना चाहेगा तो संभवतः वह मध्य वर्ग में रहना सहज समझेगा। भले ही उस शिक्षक कि आय 30 हजार हो तथा उसकी मूलभूत आवश्यकताएँ बमुश्किल ही पूरी हो रही हों। इसके विपरीत यदि किसी छोटे दुकानदार से यही सवाल पूछा जाय तो संभवतः वह स्वयं को निम्न वर्ग में ही रखना उचित समझेगा, भले ही वह महीने में एक लाख कमा लेता हो तथा विभिन्न प्रकार की सुख-सुविधाओं का लाभ लेता हो।

प्रत्येक वर्ग की एक सामाजिक प्रस्थिति तथा विशिष्ट संस्कृति होती है तथा उसी प्रस्थिति के अनुरूप उसे सुविधाएं तथा जीवन अवसर प्राप्त होते हैं। ये जीवन अवसर ही उस वर्ग से जुड़े व्यक्ति की वृद्धि अथवा हानि को तय करते हैं। मैक्स वेबर ने इसी प्रस्थिति समूह को वर्ग के निर्धारण में अत्यंत आवश्यक माना है। वेबर ने स्पष्ट कहा है कि जीवन अवसर तथा जीवन शैली ही वर्गों को निर्धारित करते हैं तथा इन्हीं आधारों पर एक वर्ग का अस्तित्व तथा पहचान दूसरे वर्ग से पृथक रहता है।

हार्टन तथा हंट ने वर्ग को निर्धारित करने वाले कारकों में आय, संपत्ति, शिक्षा, व्यवसाय तथा वर्ग-प्रस्थिति आदि से संबन्धित व्यक्ति विशेष के अभिज्ञान को आवश्यक मानते हैं। वही वार्नर का मत है कि यदि मात्र आर्थिक कारकों द्वारा वर्गों का निर्धारण होता तो संभवतः कई वर्गों का जन्म ही नहीं होता। वार्नर ने कुल छः प्रकार के वर्गों का उल्लेख किया है –

1. उच्च – उच्च वर्ग
2. उच्च – निम्न वर्ग
3. मध्य – उच्च वर्ग
4. मध्य – निम्न वर्ग
5. निम्न – उच्च वर्ग

6. निम्न – निम्न वर्ग

पश्चिमी समाजों के अध्ययन के आधार पर एंथोनी गिडेंस ने तीन वर्गों की व्याख्या की है –

1. उच्च वर्ग
2. मध्य वर्ग
3. निम्न वर्ग

3.3.5. वर्ग विभाजन के आधार

रॉबर्ट बिरस्टीड द्वारा वर्ग विभाजन हेतु कुछ बिदुओं के बारे में बताया गया है तथा ये बिन्दु भारतीय संदर्भ में भी उल्लेखनीय हैं –

1. धन, संपत्ति तथा आय

वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधारों में धन, संपत्ति तथा आय होते हैं। व्यक्ति की आय जितनी अधिक होगी उसके पर उस्तनी ही ज्यादा संपत्ति तथा धन आदि होंगे। तथा उसके पास जितना अधिक धन होगा उतना ही अधिक वह सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण होगा, शिक्षित होगा। इस प्रकार से उस व्यक्ति का जीवन स्तर भी काफी ऊंचा होगा। मार्क्स जैसे अन्य विद्वानों की मान्यता है कि व्यक्ति का उत्पादन प्रणाली तथा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर उस व्यक्ति के वर्ग को जाना जा सकता है। बुर्जुआ वर्ग का उत्पादन के साधनों तथा प्रणाली पर सबसे ज्यादा नियंत्रण रहता है तथा यही कारण है कि वह सदैव उच्च वर्ग का स्वामी बना रहता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत संपत्ति में वृद्धि तथा आर्थिक शक्तियों के वितरण में समानता-असमानता द्वारा ही विभिन्न वर्गों का निर्माण तथा निर्धारण होता है।

हालांकि यहाँ मात्र धन तथा संपत्ति पर स्वामित्व के आधार पर ही वर्गों का निर्धारण करना उचित नहीं है। वर्गों के निर्धारण के लिए संपत्ति तथा धन के स्रोत भी आवश्यक होते हैं। अर्थात् धन व संपत्ति की प्राप्ति हेतु किस प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया गया है, वे स्रोत समाज द्वारा स्वीकृत हैं अथवा नहीं। ईमानदारी तथा परिश्रम आदि समाज स्वीकृत तरीकों से अर्जित किया गया धन तथा संपत्ति, चोरी व धोखे आदि प्रकार के अनैतिक और समाज विरोधी तरीकों से प्राप्त किए गए धन व संपत्ति से सदैव उच्च माना जाएगा।

2. परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था

भारत में एक व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण में परिवार तथा नातेदार महत्वपूर्ण कारक होते हैं। हालांकि ये कारक पश्चिमी समाजों में भी कमोबेश रूप से काम करते हैं। उच्च वर्गों में जन्म लिए बच्चे भी उच्च वर्ग से ही संबन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए अंबानी, अडानी, नेहरू आदि परिवारों में जन्म लिए बच्चों की वर्गीय स्थिति स्वतः उच्च होती है। यह निर्धारण भारत जैसे देश में और भी अधिक निर्णायक तौर पर आवश्यक

रहता है। यह ठीक साम्राज्यवादी समाजों की तरह से कार्य करता है, राजा का पुत्र ही राजा होगा तथा उसकी स्थिति भी राज दरबार के उत्तराधिकारी होने के नाते उच्च होगी।

3. व्यवसाय की प्रकृति

वर्ग के निर्धारण में व्यवसाय तथा उसकी प्रकृति भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इंजीनियर, डॉक्टर, अध्यापक, राजनीतिज्ञ आदि की पारिवारिक स्थिति चाहे किसी प्रकार की हो, उनका आर्थिक वेतन कितना भी कम हो, फिर भी समान्यतः इन्हें समाज में उच्च वर्ग की स्थिति ही प्रदान की जाती है। वहीं इनके विपरीत डाकू, चोर, वेश्या आदि के पास कितना भी धन हो, उन्हें समाज द्वारा सदैव निकृष्ट ही समझा जाता है तथा उनकी वर्गीय स्थिति सदैव निम्न ही रहती है। भारत धर्म द्वारा संचालित देश है तथा यही वजह है कि यहाँ कर्मकांडीय ब्राह्मणों को समाज में उच्च स्थिति प्राप्त है। जबकि पश्चिमी देशों में व्यापार, शिक्षा, ज्ञान आदि के आधार पर दक्ष व्यक्ति को उच्च वर्ग में सम्मिलित किया जाता है।

4. शिक्षा

संभवत सभी समाजों में शिक्षित व्यक्तियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है तथा उन्हें उच्च प्रस्थिति प्रदान की जाती है। भारतीय समाज भी इससे अछूता नहीं है। शीशन, प्रशिक्षण, तकनीक, ज्ञान-विज्ञान आदि में कुशल व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठित समझा जाता है। इसके अलावा भारतीय संदर्भ में आध्यात्मिक व धार्मिक ज्ञान को भी वरीयता दी जाती है तथा संबन्धित व्यक्ति सम्मान का पात्र रहता है। इस प्रकार से व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा उसे उच्च वर्ग की प्रस्थिति प्राप्त होती है।

5. आवास की स्थिति

व्यक्ति का आवासीय स्थान तथा उसके आस-पड़ोस में रहने वाले लोगों की प्रकृति भी वर्ग का निर्धारण करते हैं। कस्बों तथा शहरी क्षेत्रों के विकसित कालोनियों में रहने वाले व्यक्तियों की प्रस्थिति गंदी बस्तियों में रहने वाले व्यक्तियों से उच्च रहती है। इसके अलावा आवास स्थान कहाँ यह यह भी प्रस्थिति के निर्धारण में आवश्यक कारक है, जैसे – आवास स्थान का शहर के केंद्र अथवा बाहर होना।

6. आवासीय स्थान की अवधि

भारत जैसे परंपरावादी क्षेत्र में अपने निवास स्थान को बार बार छोडना ठीक नहीं माना जाता है। व्यक्ति की यादें, प्रेम, भावनाएँ आदि एक स्थान पर होती हैं तथा जो व्यक्ति अपने निवास स्थान को कई बार बादल रहा है उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इसके अलावा व्यक्ति के परिवार अथवा नातेदारों के बारे में भी इस बात को ध्यान दिया जाता है कि कहीं वह व्यक्ति किसी ऐसे घुमक्कड़ परिवार का सदस्य तो नहीं।

7. धर्म

ग्रामीण भारत में धर्म आज भी प्रस्थिति के निर्धारण में अत्यंत महत्वपूर्ण कारक है। यह बात शहरी भारत में भी थोड़ी-बहुत लागू होती है। धर्म तथा धार्मिक कार्यों से संबन्धित व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति

उच्च होती है, यही कारण है कि पुरोहित की वर्गीय स्थिति उच्च रहती है। प्राचीन काल में ऋषि-मुनि, योगी, तपस्वी आदि ओ उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी तथा उनके प्रति सम्मान और आदर की भावना रखी जाती थी।

3.3.6. सामाजिक वर्गों की संरचना

भारतीय समाजों में प्राचीन काल से ही संस्तरण पाया जाता रहा है तथा इसे वर्ण व्यवस्था के नाम से जाना जाता था। इसमें कुल चार वर्ण पाये जाते थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। विद्वानों का मत है कि कालांतर में यही वर्ण व्यवस्था का रूपान्तरण जाति व्यवस्था के रूप में हो गया तथा वर्ण व्यवस्था के दौरान जो निर्धारण कर्म के आधार होता है, वह जाति व्यवस्था में जन्म आधारित हो गया। भारतीय समाज संभवतः अंग्रेजों के आगमन पर ही वर्ग व्यवस्था से रूबरू हुआ। इसके पश्चात औद्योगीकरण, मशीनीकरण, नगरीकरण तथा अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों ने एक स्पष्ट वर्ग व्यवस्था को भारत में अपने पैर जमाने हेतु स्पष्ट पृष्ठभूमि प्रदान की। हालांकि भारत में वर्गों के रूपान्तरण को ईसा के 600 वर्षों पूर्व आर्यों तथा अनार्यों के सांस्कृतिक मिश्रण के दौरान माना जाता है।

यदि भारतीय समाज में सामाजिक वर्गों की संरचना के बारे में विश्लेषण प्रस्तुत किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि यहाँ वर्ग संरचना की घनिष्ठता जातीय संस्तरण के साथ सम्बद्ध है। प्राचीन काल में भारतीय समाजों में वर्ग संरचना के आधारों के रूप में अनेक कारक विद्यमान थे, जैसे – संपत्ति पर आधिपत्य, बाजार, शक्ति आदि। अंग्रेजों के आगमन तथा आर्थिक-राजनीतिक नीतियों ने भारत में जमीदारी तथा जागीरदारी व्यवस्था को पैदा किया। इस व्यवस्था ने वर्गों को दो प्रमुख भागों में विभाजित कर दिया – पहला, जमीदार तथा भूस्वामी वर्ग और दूसरा, जोतकर तथा कृषक वर्ग। इसी प्रकार से रैयतवाड़ी व्यवस्था ने भी दो वर्गों को पैदा किया – पहला वर्ग रैयत-भूस्वामियों का तथा दूसरा वर्ग रैयत-कृषकों का।

अँग्रेजी शासन की समाप्ती तथा स्वतंत्र भारत में जमीदारी प्रथा के उन्मूलन तथा भूमि सुधार के कार्यों ने ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ग संरचना को प्रभावित किया। जमीदारी तथा सामंतवादी व्यवस्था का अंत हुआ तथा मालिक-मजदूर के संबंध भी परिवर्तित हुए। इन परिवर्तनों ने वर्ग संरचना को पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया। इसे हम स्पष्ट तौर पर एक पैराडाइम शिफ्ट की संज्ञा दे सकते हैं। परिणामस्वरूप भूमि पट्टे के रूप में दी जाने लगी तथा कृषि मजदूरों द्वारा कृष्य कार्य कराये जाने लगे। इसके अलावा एक नए मध्य कृषक वर्ग का उदय हुआ जो वास्तव में पूर्व के जमीदारों व सामंतों का है।

कई स्थानों पर भू-सुधारों को लेकर कृषक सम्बन्धों में तनाव भी उत्पन्न हुये। एस. खुसरो ने आंध्र प्रदेश का अध्ययन किया और बताया कि इन क्षेत्रों में भूमि सुधार कानून के पारित होने पश्चात स्वयं की भूमि पर कृषि करने वाले किसानों की संख्या में बृद्धि हुआ है तथा साझेदारी प्रणाली से कृषि करवाने वाले जोतकरों को विभिन्न प्रकार की आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन तथा

भूमि सुधार के क़ानूनों द्वारा कृषक वर्ग संरचना में होने वाले प्रमुख परिवर्तनों को पी.सी. जोशी ने चिन्हित किया है, वे परिवर्तन इस प्रकार हैं –

1) सामंतवादी एवं परंपरागत जोत व्यवस्था समाप्त हुआ तथा इसके स्थान पर अधिक शोषणकारी असुरक्षित पट्टेकारी व्यवस्था पैदा हुई।
2) सामंतवादी भूस्वामियों की समाप्ती तथा उनके स्थान पर नए व्यापारिक भूस्वामियों का जन्म हुआ। ये भूस्वामी कृषि कार्यों के लिए नवीन तकनीकों के प्रयोग में सक्षम तथा सहज हैं और ये कृषि को एक व्यवसाय/व्यापार के रूप में समझते हैं।
3) इन संरचनात्मक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कई स्थानों पर गरीब कृषकों तथा कृषि मजदूरों द्वारा विरोध और संघर्ष किए गए तथा इसने देश में तनाव की स्थिति पैदा की।

इसी तरह से के.एल. शर्मा ने अपने राजस्थान के छः गावों के अध्ययन के आधार पर स्पष्ट किया कि इन नई भूमि नीतियों ने पूर्व के भूस्वामियों की सामाजिक स्थिति को परिवर्तित किया है तथा यह परिवर्तन उनकी वर्गीय प्रस्थिति की गिरावट के रूप में हुआ है। वे भूस्वामियों की वर्गीय प्रस्थिति में गिरावट प्रक्रिया को 'प्रोलेटेरियनाईजेशन' कहते हैं। वही दूसरी तरह एक नवीन बुर्जुआ वर्ग का जन्म हुआ है तथा यह वर्ग सम्पन्न कृषकों का है। इस प्रकार से समाज में कई वर्ग दिखाई देते हैं, जैसे – भूतपूर्व भूस्वामियों का वर्ग, व्यापारियों का वर्ग, कृषकों का वर्ग, कृषि मजदूरों का वर्ग आदि।

3.3.7. वर्ग एवं जाति में अंतर

पिछली इकाई में जाति व्यवस्था के बारे में पर्याप्त अध्ययन करने तथा इस इकाई में वर्ग व्यवस्था के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात हमें यह ज्ञात है कि ये दोनों ही संस्तरण की व्यवस्था हैं। हालांकि संस्तरण के निर्धारक अलग-अलग हैं। जाति तथा वर्ग व्यवस्था प्रकृति, कार्यों तथा निषेधों के आधार पर भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। यहाँ हम जाति तथा वर्ग व्यवस्था के आधारभूत अंतरों को प्रस्तुत करेंगे –

1. जाति जन्म आधारित होती है, जबकि वर्ग नहीं

जाति व्यवस्था में व्यक्ति उसी जाति का सदस्य हो सकता है जिसमें उसका जन्म हुआ हो। वह व्यक्ति आजीवन उसी जाति का सदस्य रहेगा तथा उसके लिए अपनी जाति परिवर्तित करना असंभव होता है। इसके विपरीत वर्ग का निर्धारण शिक्षा, शक्ति, संपत्ति, व्यवसाय, योग्यता आदि आधारों पर होता है। अतः व्यक्ति अपने परिश्रम तथा ज्ञान आदि के आधार पर वर्ग को परिवर्तित कर सकता है तथा वह उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

2. जाति एक बंद वर्ग है, जबकि वर्ग मुक्त

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि जाति व्यवस्था जन्म आधारित व्यवस्था होती है तथा यही कारण है कि व्यक्ति अपनी जाति को बादल नहीं सकता। जबकि वर्ग व्यवस्था में ऐसा नहीं है। इसके निर्धारण

में अनेक कारक जिम्मेदार होते हैं तथा वे सभी व्यक्ति के प्रयासों द्वारा संचालित होते हैं। एक व्यक्ति संपत्ति इकट्ठा करके गरीब से अमीर वर्ग में शामिल हो सकता है तथा शिक्षा ग्रहण करके व्यक्ति अशिक्षित से शिक्षित वर्ग में शामिल हो सकता है। जाति के स्थायित्व तथा कठोरता के गुण के कारण ही इसे बंद वर्ग माना जाता है तथा वर्ग व्यवस्था के लचीले होने के कारण इसे खुली अथवा मुक्त व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया जाता है।

3. जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है, जबकि वर्ग की अर्जित

जन्म पर आधारित होने के कारण व्यक्ति छह कर भी अपनी जाति को नहीं बादल सकता। ऐसा इसलिए है क्योंकि व्यक्ति को यह जन्म से ही प्रदत्त रूप में प्राप्त होती है। जबकि एक वर्ग की सदस्यता अर्जित की जाती है। व्यक्ति द्वारा किए गए प्रयास उसके वर्ग का निर्धारण करते हैं। व्यक्ति जब चाहे तब अपने कौशल, शिक्षा आदि कारकों की सहायता से अपने वर्ग को परिवर्तित कर सकता है।

4. जाति में वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक स्थिरता पायी जाती है

जन्म पर आधारित होने तथा अपनी निश्चित संरचनात्मक विशिष्टता के कारण जाति व्यवस्था में अधिक स्थिरता पायी जाती है। परंतु वर्ग व्यवस्था में समाज की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन होता रहता है।

5. जाति में व्यवसाय की निश्चितता रहती है, परंतु वर्ग में नहीं

जाति व्यवस्था में परंपरागत तौर पर व्यवसाय का निर्धारण पहले ही हो जाता है तथा यह व्यक्ति के जन्म के समय ही निश्चित कर दिया जाता है कि वह आगे चलकर कौन सा व्यवसाय करने वाला है। व्यक्ति की इच्छा हो अथवा न हो उसे जाति द्वारा निर्धारित किए गए व्यवसाय को ही करना पड़ता है। वर्ग व्यवस्था में ऐसा नहीं है। व्यक्ति अपनी इच्छा, क्षमता तथा योग्यता के आधार पर विभिन्न व्यवसाय में लगे होते हैं तथा ये व्यवसाय भी व्यक्ति के वर्ग को निर्धारित करने में आवश्यक भूमिका निभाते हैं।

6. जाति में खान-पान संबंधी प्रतिबंध पाये जाते हैं, वर्ग में नहीं

जाति व्यवस्था में खान-पान संबंधी निषेध पाये जाते हैं। प्रत्येक जातियों के अपने अलग खान-पान संबंधी प्रतिबंधों के नियम होते हैं। ये नियम ही निर्धारित करते हैं कि किस जाति का व्यक्ति किस जाति के यहाँ किस प्रकार (कच्चा, पक्का अथवा तला हुआ) का भोजन ग्रहण कर सकता है। इसके विपरीत वर्ग में ऐसी कोई व्यवस्था अथवा नियमावली नहीं पायी जाती है। किसी भी वर्ग का व्यक्ति किसी भी वर्ग के यहाँ भोजन ग्रहण कर सकता है।

7. जाति अंतर्विवाही समूह होते हैं, वर्ग नहीं

प्रत्येक जाति में विवाह संबंधी नियम तथा निषेध पाये जाते हैं। इन नियमों के अनुसार व्यक्ति केवल अपनी ही जाति में विवाह कर सकता है। जबकि वर्ग में ऐसी कोई बात नहीं होती। व्यक्ति किसी भी वर्ग में विवाह संबंध स्थापित कर सकता है, वह वर्ग संबंधित वर्ग से उच्च अथवा निम्न हो।

8. जातियों में संस्तरण व्यवस्था वर्ग की अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट तथा निश्चित रहती है

जाति व्यवस्था में एक जाति तथा दूसरी जाति के मध्य पर्याप्त सामाजिक दूरी पायी जाती है। इसके अलावा कौन सी जाति उच्च है तथा कौन सी निम्न है यह भी स्पष्ट रूप से पूर्व निर्धारित रहता है। वर्ग व्यवस्था में उच्च-निम्न का यह संस्तरण उतना स्पष्ट नहीं होता है। वर्गों में उच्चता अथवा निम्नता को समय-परिस्थिति के अनुरूप समझा जा सकता है।

3.3.8. सारांश

इस इकाई में वर्ग की अवधारणा को प्रस्तुत किया गया तथा साथ ही इस व्यवस्था की विशेषताओं पर भी चर्चा की गई। वर्गों के प्रमुख आधारों में आर्थिक पक्षों के इतर भी अनेक पक्ष महत्वपूर्ण होते हैं, इस बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया। भारतीय संदर्भ में वर्गों के विभाजन तथा वर्गीय संरचना के बारे में जानकारी प्रदान की गई। इस इकाई के अंत में जाति तथा वर्ग के मध्य के मूलभूत अंतरों को स्पष्ट किया गया। हालांकि परिवर्तन के साथ साथ जाति तथा वर्ग व्यवस्था में आए दिन नए परिवर्तन आ रहे हैं तथा ये परिवर्तन उनकी संरचनात्मक विशेषताओं को भी परिवर्तित करने में पीछे नहीं हैं।

3.3.9. बोध प्रश्न

1. वर्ग के अर्थ तथा प्रमुख परिभाषाओं को लिखिए। साथ ही वर्ग व्यवस्था की विशेषताओं के बारे में भी विवरण प्रस्तुत कीजिये।
2. क्या वर्ग केवल आर्थिक आधारों पर निर्धारित होते हैं? स्पष्ट कीजिये।
3. वर्ग विभाजन के प्रमुख आधारों को बताइये।
4. भारत में वर्ग संरचना पर एक लेख लिखिए।
5. जाति तथा वर्ग में अंतर बताइये।

3.3.10. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. आहूजा, र. (1995). *भारतीय सामाजिक व्यवस्था*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.
2. देसाई, ए.आर. (1964). *इंडियाज़ पाथ ऑफ डेवलपमेंट*. मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन.
3. दोषी, एस.एल. एवं जैन, पी.सी. (2003). *भारतीय समाज: संरचना और परिवर्तन*. जयपुर: नेशनल पब्लिशिंग हाउस.
4. पाण्डेय, ग. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा पब्लिकेशन.

5. बेते, आ. (1969). *कास्ट ओल्ड एंड न्यू एसेज इन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन*. दिल्ली: एशिया पब्लिशिंग हाउस.

6. मिश्रा, बी.बी. (1978). द *इंडियन मिडिल क्लास: डेयर ग्रोथ इन मॉडर्न टाइम्स*. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

7. शर्मा, के. एल. (2006). *भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

8. शर्मा, के. एल. (1977). *सोशल स्ट्रेटीफिकेशन इन इंडिया*. नई दिल्ली: सेज पब्लिकेशन्स.

9. सिंह, योगेंद्र. (1977). *सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एंड चेंज इन इंडिया*. नई दिल्ली: मनोहर पब्लिकेशन.

10. सिंह, योगेंद्र. (1966). मॉडर्*नाइज़ेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन*. जयपुर: रावत पब्लिकेशन.

खंड-4 संस्कृति एवं सभ्यता

इकाई-1 संस्कृति: अवधारणा एवं प्रकार

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य

4.1.1. प्रस्तावना

4.1.2. संस्कृति: अर्थ एवं परिभाषा

4.1.3. संस्कृति की विशेषताएँ

4.1.4. भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति

4.1.5. संस्कृति के लक्षण

4.1.6. संस्कृति के प्रमुख अंग

4.1.7. सारांश

4.1.8. बोध प्रश्न

4.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1.0. उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्न बिन्दुओं में सक्षम बनाना है –

- संस्कृति अर्थ और परिभाषाओं की विवेचना कर पाने में।
- संस्कृति की विशेषताओं और उसके लक्षणों को जान पाने में।
- भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के बारे में समझ विकसित कर पाने में।
- संस्कृति के प्रमुख अंगों को समझ पाने में।

4.1.1. प्रस्तावना

मानव व्यवहार को ध्यान से अवलोकित करने पर दो मूल लक्षण स्पष्ट होते हैं – पहला, मानव एक सामाजिक प्राणी है तथा एक सामाजिक प्राणी होने के नाते वह अन्य मनुष्यों व समाजों से संबंधित है। दूसरा लक्षण यह है कि मानव के व्यवहार तथा आचरण में कुछ ऐसी क्रियाएँ हैं, जिनका प्रयोग वह बार-बार करता है। उदाहरणस्वरूप, जब भी हम किसी से मिलते हैं तो अभिवादन करते हैं, बड़ों का आदर करते हैं, मिलने पर मुस्कुराते हैं आदि-आदि। कहने का तात्पर्य है कि अनेक ऐसी मानवीय क्रियाएँ हैं जो समानता को प्रदर्शित

करती हैं। परंतु इसका यह आशय कतई नहीं है कि मनुष्य का व्यवहार पूर्ण रूप से एक जैसा ही होता है। स्थान, समाज तथा ऐतिहासिकता के विशिष्ट होने के कारण व्यवहार भी कमोबेश रूप में पृथक होती हैं, जैसे – किसी जापानी व्यक्ति के अभिवादन का तरीका तथा किसी भारतीय व्यक्ति के अभिवादन का तरीका। मानव व्यवहार के ये दोनों पक्ष मानव जीवन की सामाजिक प्रकृति तथा व्यवहार की मानक पद्धति के तर्कों को उद्घाटित करती है। मानव जीवन की सामाजिक प्रकृति तथा व्यवहार की मानक पद्धति को समझने हेतु समाजशास्त्रियों द्वारा दो संकल्पनाओं का सूत्रपात किया गया – समाज और संस्कृति।

4.1.2. संस्कृति: अर्थ एवं परिभाषा

'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा से अनुग्रहित किया गया है। 'संस्कृति' तथा 'संस्कृत' दोनों ही शब्द 'संस्कार' से निर्मित हुये हैं। संस्कार का आशय कुछ कृत्यों/कर्मों को करने से है। सनातन धर्म (हिंदू धर्म) में अनेक संस्कारों (मुख्य रूप से सोलह) का विवरण मिलता है तथा इन संस्कारों को व्यक्ति अपने जन्म से मृत्यु तक पूरा करता है। संस्कृति का अर्थ होता है विभिन्न संस्कारों की सहायता से समूहिक जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करना। संस्कृति एक प्रकार से परिमार्जन की प्रक्रिया है। कोई भी मनुष्य अपने संस्कारों को पूर्ण कर ही एक सामाजिक प्राणी बनता है।

विद्वानों द्वारा संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। क्रोबर तथा क्लूखौन ने अध्ययन किया तथा बायता कि संस्कृति शब्द की 108 परिभाषाएँ हैं। साहित्यकारों द्वारा इसकी परिभाषा सामाजिक आकर्षण तथा बौद्धिक श्रेष्ठता को दर्शाने के लिए प्रस्तुत की गई। कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा बौद्धिक नेताओं के लिए 'सांस्कृतिक आभिजात' शब्द का प्रयोग किया गया है, तो कुछ समाजशास्त्रियों ने संस्कृति का प्रयोग मानव की नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों को स्पष्ट करने के प्रयोजन से किया। नैतिक दृष्टि से संस्कृति का संबंध ईमानदारी, आदर्श नियमों, नैतिकता तथा सद्गुणों आदि से है।

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है –

टायलर के अनुसार,

"संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदेशों का समावेश है जो समाज का सदस्य होने के नाते मनुष्य प्राप्त करता है।"

हर्स्कोविट्स के शब्दों में,

"पर्यावरण का मानव निर्मित भाग ही संस्कृति है।"

मैकाइवर और पेज के अनुसार,

"यह मूल्यों, शैलियों, भावात्मक अभियानों का संसार है। इसलिए संस्कृति सम्मता का साहित्य, धर्म, मनोरंजन तथा आनंद से हमारी अभिव्यक्ति है।"

मजूमदार तथा मदान ने मानव के जीने के तरीके को ही संस्कृति का नाम दिया है।

रॉबर्ट बीरस्टीड के अनुसार,

"संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ शामिल हैं जिनपर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।"

फेयरचाइल्ड के शब्दों में,

"प्रतिकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और संचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों के लिए सामूहिक नाम संस्कृति है।"

हॉबेल के अनुसार,

"संस्कृति सीखे हुये व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है, जो किसी प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं है।"

लैडिस के अनुसार,

"संस्कृति वह संसार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।"

ब्रूम एवं सेल्जनिक का मानना है,

"संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।"

प्रस्तुत सभी परिभाषाओं के आलोक में हम यह प्रस्तावित कर सकते हैं कि संस्कृति एक अत्यंत जटिल संकल्पना है तथा इसके संबंध में विद्वानों में कोई एक मत नहीं है। सरल रूप में, संस्कृति को किसी समाज विशेष के समग्र जीवन विधि अथवा उसके सम्पूर्ण व्यवहार प्रतिमानों के तौर पर समझा जा सकता है।

4.1.3. संस्कृति की विशेषताएँ

संस्कृति की विशेषताओं को समझकर इसकी संकल्पना के बारे में वास्तविक व्यवहारिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है, प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

1. मानव निर्मित

संस्कृति की संकल्पना का संबंध मात्र मानव समाज के साथ जुड़ी हुई है। मानव में कुछ ऐसी शारीरिक विशेषताएँ होती हैं (जैसे – विकसित मस्तिष्क, किसी एक स्थान अथवा वस्तु पर केन्द्रित की जा सकने वाली आँख, हाथ तथा किसी वस्तुत को पकड़ने हेतु अंगूठे की स्थिति, गर्दन की रचना आदि) जो उसे अन्य प्राणियों से अलग बनती है तथा यही कारण है कि मानव ने संस्कृति को विकसित किया। विकसित मस्तिष्क होने के कारण ही मानव निरंतर नवीन आविष्कार करता रहता है और उन आविष्कारों से मानव जाति को नया अनुभव प्रदान करता है। मानवों में संस्कृति का विकास होने के अरन ही वह अन्य सभी प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है।

2. सीखा हुआ व्यवहार

हॉबेल के अनुसार संस्कृति एक व्यवहार है जिसे मनुष्य द्वारा सीखा जाता है। किसी व्यक्ति को संस्कृति वंशानुक्रम के रूप में नहीं प्राप्त होती, अपितु प्रत्येक व्यक्ति को इसे सीखना पड़ता है। यह व्यवहारों के प्रतिमानों का योग है तथा मानव इसे समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान अंगीकार करता है। वस्तुतः सीखने की क्षमता मात्र मनुष्यों में ही नहीं होती, अपितु यह क्षमता पशुओं में भी देखने को मिलती है। परंतु पशुओं में संस्कृति नहीं पायी जाती। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पशुओं द्वारा सीखा हुआ व्यवहार मनुष्यों की तरह सामूहिक व्यवहार का अंग नहीं बन पाता, पशुओं द्वारा सीखा व्यवहार मात्र व्यक्तिगत व्यवहार होता है। सामूहिक व्यवहार द्वारा प्रथाओं, जनरीतियों, रूढ़ियों आदि का जन्म होता है तथा यह केवल मानव समाजों में पाया जाता है।

3. पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरण

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है तथा मनुष्य इसे समाजीकरण की प्रक्रिया से सीखता है अर्थात् अतः संस्कृति का ज्ञान नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से होता है। इस प्रकार संस्कृति एक समूह से दूसरे समूह तथा एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती है। मानव को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाने में भाषा एक महत्वपूर्ण कारक है तथा इसी के माध्यम से मनुष्य अपनी संस्कृति तथा अर्जित ज्ञान को लेखन व संकेतों के मध्यान से नयी पीढ़ी तक पहुंचाता है। संस्कृति के हस्तांतरण के कारण वह दिन-प्रतिदिन उन्नत तथा विशेषीकृत होती जाती है।

4. प्रत्येक समाज विशेष की विशिष्ट संस्कृति

प्रत्येक समाज की भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक परिस्थिति किसी दूसरे समाज से भिन्न होती है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति दूसरे समाज की संस्कृति से भिन्न होती है। प्रत्येक समाज द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु आविष्कार किए जाते हैं तथा आविष्कारों का योग संस्कृति को एन नया रूप और कलेवर प्रदान करता है। चूंकि सभी समाजों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं, अतथ उनके द्वारा किए जाने वाले आविष्कार भी भिन्न होते हैं और भिन्न आविष्कारों के कारण स्वाभाविक तौर पर संस्कृति में भी भिन्नता देखने को मिलती है। किसी एक समाज की संस्कृति में घटित होने वाला परिवर्तन दूसरे समाज की संस्कृति में होने वाले परिवर्तन से भिन्न प्रकार का होता है। संस्कृति में भिन्नता पाये जाने के कारण प्रत्येक समाज में सदस्यों के व्यवहार भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

5. सामाजिक गुण

संस्कृति का जन्म किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं होता, अपितु इसका विकास समाज द्वारा होता है। समाज के अभाव में संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सामूहिक आदतों, व्यवहारों तथा अनुभवों द्वारा ही संस्कृति का अभ्युदय होता है। संस्कृति के अंग (जैसे – प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ,

परंपरा, भाषा, कला, दर्शन, धर्म आदि) किसी व्यक्ति विशेष की विशेषताओं को स्पष्ट नहीं करते, अपितु वे सम्पूर्ण समाज के जीवन विधि का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करते हैं।

6. समूह के लिए आदर्श

समूह के सदस्यों द्वारा अपनी संस्कृति को आदर्श समझा जाता है तथा उसी के अनुरूप वे अपने व्यवहारों व विचारों को अपनाते हैं। जब संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो प्रायः प्रत्येक समूह के सदस्य अपनी संस्कृति को दूसरे समूह की संस्कृति से उच्च तथा बेहतर बताने का प्रयास करता है। किसी भी समूह के लिए संस्कृति न केवल एक आदर्श होती है, अपितु वह उसके लिए पहचान का माध्यम भी प्रदान करती है। यही कारण है की सदस्य उसके प्रति अपना तदात्म स्थापित रखते हैं। संस्कृति आदर्श इसलिए भी होती है क्योंकि इसके व्यवहार प्रतिमान किसी व्यक्ति विशेष तक सीमित नहीं रहते, वरन् इसका संबंध पूरे समूह अथवा समाज के साथ रहता है।

7. मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति

संस्कृति की यह विशेषता है कि वह मानव की आवश्यकताओं को पूरा करती है। मानव की अनेक सामाजिक, संस्कृति, आर्थिक, शारीरिक आदि प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही संस्कृति का विकास किया जाता है। किसी संस्कृति अथवा सांस्कृतिक तत्व का अस्तित्व इसी बात पर निर्भर करता है कि वह मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने में कितनी सक्षम है। यदि संस्कृति मानव की आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में सक्षम नहीं है तो उस संस्कृति अथवा सांस्कृतिक तत्व का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

8. अनुकूलन की क्षमता

संस्कृति में समय, स्थान, समूह, समाज तथा परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं के अनुकूलन की क्षमता पायी जाती है। संस्कृति का प्रमुख गुण परिवर्तनशील होना होता है। विभिन्न भौगोलिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों के आधार पर संस्कृति परिवर्तित होती रहती है। भारत की वर्तमान संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति में पर्याप्त अंतर देखने को मिलता है, क्योंकि संस्कृति ने स्वयं को समय के साथ परिवर्तित कर लिया। इसी प्रकार शीत प्रदेशों तथा गर्म प्रदेशों की संस्कृति में भी अंतर देखने को मिलता है, क्योंकि संस्कृति में भौगोलिक दशाओं के अनुरूप अनुकूलन करने की क्षमता पायी जाती है।

9. संतुलन तथा संगठन

संस्कृति का निर्माण अनेक इक्सियों के संयोजन से होता है तथा इन्हें हम सांस्कृतिक तत्व व संस्कृति संकुल के नाम से जानते हैं। संस्कृति की इन इकाइयों मीन पारस्परिक संबंध तथा अंतःनिर्भरता देखने को मिलती है। ये परस्पर संबंधित रहते हैं। ये सभी इकाइयां आपस में बंधकर ही सम्पूर्ण संस्कृति की व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करती हैं। इस संरचना की प्रत्येक इकाइयों की एक निश्चित स्थिति तथा कार्य होते हैं।

10. मानव व्यक्तित्व का निर्माण

मनुष्य का पालन एक सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। जन्म के उपरांत बालक अपनी संस्कृत में ही सीखता है, उसका समाजीकरण संस्कृति के अनुरूप ही किया जाता है। इसी कारण एक संस्कृति से संबंधित व्यक्ति का व्यक्तित्व दूसरे संस्कृति से भिन्न रहता है। संस्कृति में प्रचलित, रीति-रिवाज, प्रथाओं, व्यवहारों आदि की स्पष्ट छाप व्यक्ति पर देखि जा सकती है।

11. अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी

क्रोबर ने संस्कृति को अधि-वैयक्तिक तथा अधि-सावयवी माना है। अधि-वैयक्तिक का आशय है कि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा संस्कृति का विकास नहीं किया जाता है तथा साथ ही व्यक्ति संस्कृति के किसी एक ही भाग का प्रयोग कर पाता है, सम्पूर्ण संस्कृति का नहीं। संस्कृति का निर्माण समूह अथवा समाज द्वारा ही किया जाता है। हालांकि सामाजिक कार्यकर्ताओं, नेताओं आदि द्वारा समाज तथा संस्कृति के मूल्यों, विचारों व मान्यताओं में परिवर्तन अवश्य किया जाता है, परंतु वे संस्कृति के वाहक और निर्माता नहीं होते हैं। वास्तविकता तो यह है कि उन्होने जिन विचारों को ग्रहण किया, वे व्यवहार भी समाज में पूर्व से ही व्याप्त थे। संस्कृति का निर्माण, विकास, विस्तार व परिमार्जन आदि निरंतर होता रहता है, किसी व्यक्ति में इसे रोकने अथवा नियंत्रित करने की क्षमता नहीं होती है तथा इन अर्थों में संस्कृति अधि-सावयवी है। अर्थात् संस्कृति का अस्तित्व व्यक्ति से परे है, व्यक्ति से अधिक है।

4.1.4.भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति

अमरीकन समाजशास्त्रीय ऑगबर्न ने संस्कृति को भौतिक तथा अभौतिक रूप में वर्गीकृत किया है। यह वर्गीकरण अन्य विद्वानों द्वारा स्वीकार्य भी है –

क) भौतिक संस्कृति

भौतिक संस्कृति में मानव निर्मित सभी भौतिक तथा मूर्त वस्तुओं को शामिल किया जाता है। इसके तहत वे सभी वस्तुएँ शामिल की जाती हैं जिन्हें हम देख सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं तथा इंद्रियों से जिनका आभास कर सकते हैं। प्राचीन काल से ही मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयोजन से प्राकृतिक वस्तुओं तथा शक्तियों को परिवर्तित कर अपने उपयोग हेतु नवीन वस्तुओं का आविष्कार करते रहे हैं तथा इस प्रकार से वे नित नयी मशीनों व अन्य वस्तुओं को निर्मित कर भौतिक संस्कृति में इजाफा करते रहे हैं। भौतिक संस्कृति में पंखा, टेलीविज़न, कलम, रेल, जहाज, टेलीफोन, वस्त्र आदि को समझा जा सकता है। भौतिक संस्कृति के तत्वों को गिन पाना तथा व्याख्यायित कर पाना दुष्कर है। सरल व आदिम समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में इनकी संख्या बहुत ही अधिक हो चुकी है। इस प्रकार से पुरानी पीढ़ी की तुलना में नई पीढ़ी के पास अपार मात्रा में भौतिक संस्कृति देखने को मिलती है।

भौतिक संस्कृति में शीघ्र ही परिवर्तन होता है, यही कारण है कि किसी वस्तु के प्राचीन और आधुनिक स्वरूप में काफी अंतर देखने को मिलता है। भौतिक संस्कृति को मापना अत्यंत सरल है, इसे हम संख्या, वजन, लंबाई-चौड़ाई आदि के रूप में माप सकते हैं। इनका एक भौतिक आधार होता है।

ख) अभौतिक संस्कृति

अभौतिक संस्कृति के तहत वे सभी तत्व आते हैं जिन्हें हम ना ही देख सकते हैं और ना ही स्पर्श कर सकते हैं। ये तत्व अमूर्त प्रकृति के होते हैं तथा इंका नाप-तौल, रंग, रूप अथवा आकार नहीं होता है। अभौतिक संस्कृति को केवल महसूस किया जा सकता है, यह केवल मनुष्यों के विचारों तथा कार्यों में परिलक्षित होती है। इसमें विचार, विश्वास, व्यवहार, भाषा, नैतिकता, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, ज्ञान, क्षमता आदि को शामिल किया जाता है तथा इंका हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी होता रहता है।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति पृथक होते हुये भी परस्पर संबंधित रहते हैं। उदाहरणस्वरूप, मोबाइल भौतिक संस्कृति का द्योतक है, जबकि उसे चलाने की विधा अभौतिक संस्कृति से संबंधित है। बहरहाल, भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के अंतर को हम निम्न बिन्दुओं की सहायता से अभिव्यक्त कर सकते हैं –

1- भौतिक संस्कृति मूर्त प्रकृति की होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति अमूर्त होती है।

2- भौतिक संस्कृति में परिवर्तन तेजी से होता है, जबकि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन अत्यंत धीमी गति से होता है। उदाहरणस्वरूप, प्राचीन तथा आधुनिक समाज की मशीनों, तकनीकों तथा अन्यभौतिक वस्तुओं में बहुत से परिवर्तन हुये हैं, जबकि हमारे विचारों, व्यवहारों, विश्वासों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, परम्पराओं आदि में परिवर्तन बीएस नाम मात्र के हुये हैं।

3- अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आंतरिक जीवन से रहता है, जबकि भौतिक संस्कृति का संबंध मानवके बाह्य जीवन से रहता है।

4- भौतिक संस्कृति, अभौतिक संस्कृति की अपेक्षाकृत शीघ्र ग्राह्य है। जब दो भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक समूह एक-दूसरे के संपर्क में आते हैं तो वे भौतिक संस्कृति को बहुत ही तेजी से स्वीकार कर लेते हैं, जबकि वे अभौतिक संस्कृति (विचार, व्यवहार, प्रथा, विश्वास आदि) को ग्रहण करने में हिचकते हैं।

5- भौतिक संस्कृति की माप सरल होती है तथा इसे संख्या, वजन, लंबाई-चौड़ाई के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है, जबकि अभौतिक संस्कृति के साथ ऐसा नहीं है। अभौतिक संस्कृति का माप-तौल करना संभव नहीं।

6- भौतिक संस्कृति अपेक्षाकृत सरल होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति जटिल होती है।

7- भौतिक संस्कृति का मूल्यांकन लाभ तथा उपयोगिता के आधार पर किया जाता है, जबकि अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन भौतिक वस्तुओं की तरह उपयोगिता के आधार पर नहीं कियाजा सकता है क्योंकि इसका संबंध मानवके आध्यात्मिक पक्ष से है। अभौतिक संस्कृति का मापन नहीं किया जा सकता, इसे मात्र महसूस किया जा सकता है।

4.1.5. संस्कृति के लक्षण

मजूमदार तथा मदान द्वारा संस्कृति के कुछ प्रमुख लक्षणों का उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित हैं–

1. ईथास तथा ईडॉस

मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति के दो पक्षों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया है – ईथास तथा ईडॉस। इनका मत है कि प्रत्येक संस्कृति के निर्माण में ये दोनों पक्षों कि भूमिका अहम होती है। संस्कृति के उपादानों से उसका जो बाह्य तथा औपचारिक रूप स्पष्ट होता है उसे क्रोबर ने ईडॉस की संज्ञा दी है। इसकी प्रकृति मूर्त प्रकार की होती है। जबकि, संस्कृति का वह पक्ष जो उसके गुणों, मान्यताओं तथा उसकी अभिरुचियों को प्रभावित व निर्धारित करते हैं, उसे क्रोबर ने ईथास के नाम से स्पष्ट किया है। इसकी प्रकृति अमूर्त प्रकार की होती है तथा इसके रूप में जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था संयुक्त परिवार आदि को समझा जा सकता है।

2. प्रकट तथा अप्रकट तत्व

क्लाड क्लूखौन ने संस्कृति के दो तत्वों को बताया– प्रकट तथा अप्रकट तत्व। व्यक्ति अपनी इंद्रियों के द्वारा संस्कृति के जिस भाग का अवलोकन करता है उसे प्रकट तत्व कहा जाता है। अर्थात् प्रकट तत्वों को हम देख सकते हैं, सुन सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं आदि-आदि। इसके विपरीत मानव जिन तत्वों का अवलोकन अपनी इंद्रियों से नहीं कर सकते हैं, उन्हें अप्रकट तत्व कहा गया। अप्रकट तवों का अवलोकन और अनुभव केवल प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। इनके बारे में जानकारी प्राप्त करना केवल कुशल मानवशास्त्रियों द्वारा ही संभव है। ऐसा इसलिए है क्योंकि अप्रकट तत्व की उपलब्धता मानव व्यवहार में व्याप्त अभिप्रेरकों और मनोवेगों के तौर पर होता है तथा प्रायः इनसे करता स्वयं ही परिचित नहीं रहता है। अतः संस्कृति से संबंधित किसी भी अध्ययन में प्रकट तथा अप्रकट दोनों ही तत्वों को शामिल किया जाना चाहिए।

3. संस्कृति निर्धारणवाद

सांस्कृतिक निर्धारणवादियों का मत है कि सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक आदि व्यवस्थाओं का निर्धारण संस्कृति द्वारा ही होता है। टायलर का मानना है कि समाज का सदस्य होने के नाते मनुष्य को संस्कृति समाजीकरण के सहारे प्राप्त होती है, परंतु सांस्कृतिक निर्धारणवादियों का मानना है कि संस्कृति की क्रियाशीलता तथा व्यवस्था स्वयं संस्कृति के नियमों के अनुरूप संचालित होती रहती है। लेस्ली व्हाईट को सांस्कृतिक निर्धारणवाद का प्रमुख विचारक माना जाता है। व्हाईट का मत है कि ऊर्जा के साधनों में परिवर्तन

होने से संस्कृति तथा समाज में भी परिवर्तन होते हैं। मानव मात्र संस्कृति का निर्माता ही नहीं है, वरन् वह संस्कृति का वाहक भी है।

4. संस्कृति तथा व्यक्ति

संस्कृति का अस्तित्व समाज के बिना नहीं हो सकता तथा समाज का अस्तित्व मनुष्य के बिना संभव नहीं है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि मनुष्य के बिना संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती है। वहीं दूसरी ओर संस्कृति के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि मानव की व्यक्तिगत तथा सामाजिक अस्तित्व के लिए यह आवश्यक सुविधाएं प्रदान करती है। यदि व्यक्ति समाज से लाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे समाज द्वारा स्वीकृत जीवन पद्धति को भी अंगीकृत करना होगा। इस प्रकार से संस्कृति मानव की निर्देशक है तथा साथ ही मुक्तिदायिनी भी है। संस्कृति एक ओर जहां व्यक्ति को अपने अधीन रखती है, वहीं दूसरी ओर वह मनुष्य को मुक्त भी रखती है।

5. संस्कृति तथा सभ्यता

संस्कृति तथा सभ्यता के मध्य समानता व भिन्नता को लेकर भी विद्वानों में मतभेद देखने को मिलता है। मैकाइवर जैसे समाजशास्त्री संस्कृति को मनुष्य की नैतिक,बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धि मानते हैं, जबकि सभ्यता को प्रौद्योगिक, सामाजिक संस्थाओं तथा भौतिक संस्कृति से निर्मित समझते हैं। संस्कृति अमूर्त होती है, जबकि सभ्यता की प्रकृति अमूर्त प्रकार की होती है। संस्कृति प्रगति तथा अवनति दोनों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है तथा इसके विपरीत सभ्यता ने स्वतः ना ही प्रगति होती है और ना ही अवनति। जबकि मॉर्गन ने सभ्यता को समाज के उदविकस की अवस्था के रूप में स्पष्ट किया है – जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था तथा सभ्यता की अवस्था।

6. संस्कृति तथा संस्कृति संकुल

संस्कृति का तात्पर्य किसी विशिष्ट मानव समाज की सम्पूर्ण जीवन पद्धति से है तथा यह अनेक तत्वों का संयोजन होता है। जैसे – पूजा, आराधना, मंत्र-जप, कर्मकांड, अनुष्ठान आदि। संस्कृति के कुछ तत्व जब अर्थपूर्ण तरीके से आपस में जुड़े रहते हैं तब ये तत्व संयुक्त रूप से मिलकर एक संस्कृति का निर्माण करते हैं। तथा सम्पूर्ण संस्कृति के एक भाग को संस्कृति संकुल के नाम से जाना जाता है।

4.1.6. संस्कृति के प्रमुख अंग

संस्कृति का निर्माण करने वाले प्रमुख तत्व निम्न हैं –

क) सांस्कृतिक तत्व

चूंकि संस्कृति सम्पूर्ण समाज की जीवन विधि का समावेश होता है, तो स्वाभाविक है कि इसका निर्माण कई नियामक इकाइयों के संयोग से होता है। संस्कृति एक प्रकार का संतुलित संगठन होता है

जिसका निर्माण अनेक विधियों के संयोग से होता है। संस्कृति की सबसे छोटी इकाई को हम सांस्कृतिक तत्व के नाम से जानते हैं। सांस्कृतिक तत्वों का विभाजन नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार से किसी पदार्थ की सबसे छोटी इकाई परमाणु है, शरीर की सबसे छोटी इकाई कोशिका है, समाज की सबसे छोटी इकाई संरचना है, ठीक उसी प्रकार से संस्कृति की सबसे छोटी इकाई सांस्कृतिक तत्व है। यह भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार का हो सकता है। घड़ी, रेडियो, टेलीविज़न, कलम, टेबल, कुर्सी, पंखा, रुमाल आदि को हम सांस्कृतिक तत्व के भौतिक पक्ष के रूप में समझ सकते हैं तथा शब्द, विचार, संकेत, कोई एक प्रथा अथवा रीति-रिवाज आदि को सांस्कृतिक तत्व के अभौतिक पक्ष के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

जेकब्स तथा स्टर्न के शब्दों में,

"सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की वह आविष्कृत तथा हस्तांतरिक इकाइयां हैं जिनको विवरण अथवा सैद्धांतिक अध्ययन के लिए अनेक भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता।"

हॉबेल के अनुसार,

"सांस्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है।"

डॉ. दुबे ने सांस्कृतिक तत्वों की व्याख्या संस्कृति का गठन करने वाली सरलतम व्यावहारिक इकाइयों के रूप में किया है।

हर्स्कोविट्स बताते हैं कि सांस्कृतिक तत्व एक निर्दिष्ट संस्कृति में पहचानी जाने वाली सबसे छोटी इकाई है।

प्रस्तुत व्याख्याओं के आधार पर सार रूप में यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक तत्व किसी भी संस्कृति की सबसे छोटी तथा अविभाज्य इकाई होती है। यहाँ इस बात पर ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है कि ऐसा नहीं है कि सांस्कृतिक तत्वों को विभाजित नहीं किया जा सकता है, वरन् इसका आशय यह है कि सांस्कृतिक तत्व को विभाजित कर देने के पश्चात उसका कोई अर्थपूर्ण अस्तित्व नहीं रह जाएगा। उदाहरणस्वरूप, कलम एक सांस्कृतिक तत्व है तथा यदि इसको विभाजती कर दिया जाय तो इसका आवरण, निब, पोला, ढक्कन आदि अलग-अलग हो जाएंगे। यह विभाजन अर्थपूर्ण नहीं होगा तथा इन वस्तुओं का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं रह जाएगा तथा मनुष्य इनका उपयोग नहीं कर पाएगा। सांस्कृतिक तत्व की प्रमुख विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है –

- सांस्कृतिक तत्व का एक इतिहास होता है तथा यह इतिहास उसकी उत्पत्ति को स्पष्ट करता है। उदाहरणस्वरूप, कलम, रेडियो अथवा जहाज का एक इतिहास होता है तथा यह इतिहास उसके निर्माण व विकास को बताता है।

- यह संस्कृति के समान स्थिर नहीं होता है, इसमें परिवर्तनशीलता तथा गतिशीलता का गुण पाया जाता है। किसी अन्य सांस्कृतिक समूह के संपर्क में आने से सांस्कृतिक तत्व परिवर्तित हो जाते हैं तथा कभी-कभी ये परिवर्तन संस्कृति की संरचना को भी परिवर्तित कर देते हैं।

- सांस्कृतिक तत्व अकेले नहीं रहते, अपितु ये सदैव अन्य सांस्कृतिक तत्वों के साथ मिलकर रहते हैं। अनेक अर्थपूर्ण क्रमबद्धता से जुड़े हुये सांस्कृतिक तत्वों द्वारा ही संस्कृति को एक अर्थपूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है।

ख) संस्कृति संकुल

संस्कृति संकुल का निर्माण कई सांस्कृतिक तत्वों के मेल से होता है। जिस प्रकार से कई कोशिकाओं के मिलने से एक अंग बनता है, कई परमाणुओं के मिलने से एक अणु बनता है, कई परिवारों के मिलने से एक समाज बनता है, ठीक उसी प्रकार कई सांस्कृतिक तत्वों के मिलने से संस्कृति संकुल का निर्माण होता है। ज्ञात रहे कि संस्कृति संकुल का निर्माण सांस्कृतिक तत्वों के व्यवस्थित तथा अर्थपूर्ण संबद्ध मेल से ही होता है।

सदरलैंड तथा वुडवर्ड के अनुसार,

"संस्कृति संकुल, सांस्कृतिक तत्वों की वह समग्रता है जो अर्थपूर्ण अंतःसंबंध में परस्पर गुथे होते हैं।"

हॉबेल के शब्दों में,

"संस्कृति संकुल घनिष्ठ रूप से संबंधित प्रतिमानों का एक जाल है।"

डॉ. दुबे के अनुसार,

"संस्कृति संकुल, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, समान धर्मों अथवा पूरक संस्कृति संकुल, सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि इनके अर्थपूर्ण तरीके से परस्पर संबंधित होने से निर्मित होता है।"

प्रस्तुत परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि जब अर्थपूर्ण तरीके से सांस्कृतिक तत्व परस्पर जुड़े रहते हैं तथा वे मानव कि आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, तो इसे सांस्कृतिक तत्व की संज्ञा प्रदान की जाती है। उदाहरणस्वरूप, बल्ला, गेंद, स्टंप, खेल के नियम, खेल का मैदान, खेल का पोशाक आदि विशिष्ट अर्थों में जुड़कर संस्कृति संकुल का निर्माण करते हैं।

ग) संस्कृति प्रतिमान

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनेक सांस्कृतिक तत्वों के मेल से संस्कृति संकुल का निर्माण होता है, परंतु संस्कृति संकुल किसी शून्य में रहकर कार्य नहीं करता है, वरन् एक सांस्कृतिक ढांचे के तहत संस्कृति संकुल का एक निश्चित स्थान अथवा कार्य होता है। सांस्कृतिक ढांचे के अंतर्गत संस्कृति संकुलों की उस व्यवस्था को संस्कृति प्रतिमान कहा जाता है जो सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताओं को अभिव्यक्त करता हो।

रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक 'पैटर्न्स ऑफ कल्चर' में संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा प्रस्तुत की तथा यह अवधारणा गेस्टाल्ड के मनोविज्ञान के सिद्धांत और मैलीनोवस्की के संस्कृति के सिद्धांत से प्रभावित है। संस्कृति प्रतिमान, संस्कृति की उन मूलभूत प्रेरणाओं तथा आदेशों का अध्ययन प्रस्तुत करती है जो संस्कृति को एक विशिष्ट दिशा और स्वरूप प्रदान करते हैं। एक संस्कृति प्रतिमान में सांस्कृतिक तत्व तथा संस्कृति समुक एक विशिष्ट तरीके से व्यवस्थित रहते हैं। इस अवधारणा का प्रयोग बेनेडिक्ट ने अपने अध्ययन के दौरान किया तथा यह अवधारणा तीन संस्कृतियों प्युबलों, डोंबू तथा क्वाक्विटल के अध्ययन पर आधारित है। अध्ययन में बेनेडिक्ट ने पाया कि प्युबलों की संस्कृति में सुव्यवस्था तथा अनुशासन को महत्व दिया जाता है तथा दिखावे को अनुचित समझा जाता है। वहीं डोंबू संस्कृति में लोग धोखेबाज, सनघर्ष को महत्व देने वाले तथा अपनी धारणाओं को ही श्रेष्ठ समझने वाले हैं। क्वाक्विटल संस्कृति से संबंधित लोग बड़प्पन दिखने का प्रयास करते हैं तथा यहाँ दिखावे की परंपरा देखने को मिलती है।

सदरलैंड तथा वुडवर्ड के अनुसार,

''सम्पूर्ण संस्कृति के एक प्रकार के सामान्यीकृत चित्र के रूप में संकुलों का संग्रह संस्कृति प्रतिमान है।''

हर्सकोविट्स के शब्दों में,

''संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का प्रारूप है जो कि उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से अभिव्यक्त होता हुआ जीवन के इस ढंग को संबद्धता, निरंतरता तथा विशिष्टता प्रदान करता है।''

उक्त परिभाषाओं के आलोक में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति प्रतिमान सांस्कृतिक ढांचे को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान करता है, जिसमें संस्कृति संकुल की क्रमबद्ध तथा अर्थपूर्ण व्यवस्था किसी संस्कृति को निर्मित कर सकने में सक्षम हो सके।

घ) संस्कृति क्षेत्र

संस्कृति के अध्ययन में हम उसके भौगोलिक क्षेत्र को गौण नहीं समझ सकते, वरन् किसी भी संस्कृति की उपस्थिति तथा उपयोगिता में उसके भौगोलिक क्षेत्र की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। संसार में अनेक प्रकार के समाज हैं तथा उनके अनुरूप अनेक प्रकार की संस्कृतियाँ भी पायी जाती हैं तथा यदि हम संस्कृतियों को ध्यानपूर्वक अवलोकित करें तो यह ज्ञात होगा कि जो भी संस्कृतियाँ भौगोलिक दृष्टि से निकट है, उनमें अधिक समानताएँ देखने को मिलती है। इसके विपरीत जो संस्कृतियाँ भौगोलिक दृष्टि से दूर है, उनमें अधिक असमानताएँ देखने को मिलती है। इस प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल तथा संस्कृति प्रतिमान आदि का प्रसार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तह ही सीमित रहता है तथा इसी क्षेत्र को हम संस्कृति क्षेत्र के नाम से जानते हैं।

संस्कृति क्षेत्र की संकल्पना का प्रतिपादन सर्वप्रथम क्लार्क विसलर द्वारा प्रस्तुत किया गया। **विसलर** का कहना है कि *''संस्कृति तत्व और संकुल, विशेषकर यदि वे अभौतिक हैं, दूसरे संस्कृति के तत्वों और*

संकुलों के साथ बिना मिश्रित हुये अधिक दूर तक प्रसारित नहीं हो सकते। इसका प्रभाव यह होता है कि ये संस्कृति तत्व और अंकुल अपने मूल रूप में केवल एक ही सीमित क्षेत्र में पाये जाते हैं।"

हर्सकोविट्स के शब्दों में,

"वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती हैं, एक संस्कृति क्षेत्र कहा जाता है।"

हॉबेल के अनुसार,

"एक संस्कृति क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र के उस भाग को कहा जा सकता है जिससे संस्कृति इतनी मात्रा में समानता प्रकट करती है कि उसे उन संस्कृतियों से पृथक कर देती है, जो क्षेत्र के बाहर हैं।"

डॉ. दुबे के शब्दों में,

"कतिपय संस्कृति तत्व अथवा संस्कृति संकुल एकविशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं।"

प्रस्तुत सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृति क्षेत्र एक ऐसा भौगोलिक क्षेत्र है जिसमें संस्कृति अथवा उसके तत्वों का फैलाव होता है। चूंकि संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार होता है, अतः निकट की संस्कृति को सीख पाना सरल होता है अपेक्षाकृत किसी दूर की संस्कृति को सीखने के। यही कारण है कि सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता का गुण होने बाद भी वे एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्रों तक ही सीमित रह जाते हैं।

4.1.7. सारांश

संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है तथा व्यक्ति इसे समाजीकरण के दौरान सीखता है। सम्पूर्ण जीवन तथा इसके तहत संचालित व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहार प्रतिमान आदि संस्कृति के परिवेश में रहकर ही निर्मित होते हैं। संस्कृतियाँ भौतिक तथा अभौतिक प्रकार की होती है। इस इकाई के माध्यम से संस्कृति की अवधारणा, उसकी विशेषताओं तथा प्रमुख अंगों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया तथा यह विवरण विद्यार्थी की संस्कृति के संबंध में समझ को और भी परिष्कृत करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाएगा।

4.1.8. बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: संस्कृति से आप क्या समझते हैं? परिभाषा सहित व्याख्या दीजिये।

बोध प्रश्न 2: संस्कृति की विशेषताओं तथा लक्षणों को बताइये।

बोध प्रश्न 3: भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिये।

बोध प्रश्न 4: संस्कृति के प्रमुख अंगों के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिये।

4.1.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

- मैकाइवर, आर.एम. एवं पेज, सी.एच. (1959). *सोसाइटी: एन इन्ट्रोडक्ट्री एनालिसिस*. लंदन: मैकमिलन एंड कंपनी लिमिटेड.
- बेनेडिक्ट, आर. (1989). पैट*र्न्स ऑफ कल्चर*. यूएस: हग्टन मिफिन.
- डेविस, के. (1961). *ह्यूमन सोसाइटी*. न्यूयॉर्क: द मैकमिलन कंपनी.
- हेरालुंबास, एम. (1997). *सोशिओलॉजी: थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स*. यूके: ऑक्सफोर्ड.
- हॉबेल, ई.ए. (1949). *मैन इन द प्रीमिटिव वर्ल्ड*. न्यूयॉर्क: मैकग्रा हिल पब्लिकेशन्स.
- लुंडबर्ग, जी. (1954). *सोशिओलाजी*. न्यूयॉर्क: हार्पर एंड ब्रदर.
- बीरस्टीड, आर. (1957). द *सोशल ऑर्डर*. न्यूयॉर्क: मैकग्रा हिल पब्लिकेशन्स.
- यंग, के. (1957). ए *हैंडबूक ऑफ सोशिओलॉजी*. लंदन: रुतलेज एंड कीगल पॉल.
- दूबे, अ. क. (2013). समाज-विज्ञान विश्वकोश. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
- पाण्डेय, एस. एस. (2009). समाजशास्त्र. नई दिल्ली: टाटा मैग्रा हिल.

इकाई-2 संस्कृति : तत्व, संकुल एवं सांस्कृतिक प्रतिमान

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य

4.2.1. प्रस्तावना

4.2.2. भूमिका

4.2.3. अवधारणा तथा परिभाषा

4.2.4. संस्कृति के सार्वभौम तत्व

4.2.5. संस्कृति की विशेषता

4.2.6. संस्कृति के उपादान

4.2.7. संस्कृति के कार्य या महत्व

4.2.8. बोध प्रश्न

4.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.2.0. उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप:

1. संस्कृति की परिभाषा बता सकेगें।
2. संस्कृति की अवधारणा समझ सकेगें।
3. संस्कृति की विशेषताओं को पहचान सकेगें।
4. संस्कृति के तत्वों या उपादान सम्बन्धित ज्ञान अर्जित कर सकेगें।
5. मानव जीवन में संस्कृति की भूमिका का विश्लेषण भी कर सकेगें।

4.2.2. प्रस्तावना/भूमिका

हम सभी प्रायः सभी वस्तुओं को अलग-अलग स्थितियों में स्पष्ट या व्यक्त करने के लिये स्वछन्दता पूर्वक संस्कृति शब्द का प्रयोग करते है। कभी-कभी उच्च वर्गीय लोगों की जीवनशैली को संस्कृति कहते हैं और कभी कुछ लोगों को असंस्कृति बताते हैं जिसका भाव अशिष्ट होता है। समाजशास्त्र में असंस्कृति नाम का कोई शब्द नहीं है क्योंकि उसकी दृष्टि में हर मानव की संस्कृति अर्थात् जीवनशैली अपनी निजी प्रकार की होती है संस्कृति व्यक्तियों को साथ-साथ जोड़ कर रखती है और एक समूह में बनाये रखती है तथा उन्हें अन्य

लोगों से पृथक या अलग पहचान प्रदान करती है। हमारी संस्कृति हमें भारतीय बनाती है और अमेरिकन एवं जर्मन लोगों से अलग पहचान देती है। इस भाँति संस्कृति एक समाज या समूह को निजी पहचान दिलाने वाला तत्व है कुछ निश्चित पदार्थों के उत्पादों के माध्यम से भी संस्कृति की पहचान होती है यह भाषा धर्म, अर्थ व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली से जानी पहचानी जाती है। संस्कृति एक जीवन पद्धति है जो एक ही जनसमुदाय में समान प्रकार की होती है इसके अन्तर्गत एक जनसमुदाय की आस्थाएं, विश्वासों, अभिवृत्तियाँ आपसी समझ और व्यवहार के तौर-तरीकों के एकत्रित स्वरूप आते हैं उनसे हमें एक दूसरे को समझने में आसानी होती है। इस पाठ में हम संस्कृति उसकी अवधारणा उसके उपादान, विशेषता तथा मानव जीवन पर इसके प्रभाव के संबंध में पढ़ेगें।

संस्कृति की परिभाषाः

संस्कृति हमारी अस्मिता और अस्तित्व का अभिन्न अंग है तथापि यह विभिन्न समाजों में अलग-अलग होती है हम संस्कृति को निम्नांकित उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं। जैसे जब हम किसी रिश्तेदार से मिलते है तो दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करते हैं यह भारतीय संस्कृति की खासियत है पश्चिमी समाजों में अपने मित्रों और रिश्तेदारों का अभिवादन करने के लिये भिन्न-भिन्न तरीके जैसे हाथ मिलाना और गले लगाना प्रचलित है।

अब हम संस्कृति की परिभाषा करें तो सबसे अधिक स्वीकृत, प्रचलित और आसान परिभाषा यह है ‘‘संस्कृति मानव द्वारा समाज के एक सदस्य के रूप में अर्जित ज्ञान, विश्वासों, आस्थाओं, कला कौशलों, आचार्य विचारों, कानूनों, रीति रिवाजों तथा अन्य क्षमताओं का एक समग्र जटिल स्वरूप है।’’

4.2.3. संकृति की समाजशास्त्रीय परिभाषा

मजूमदार एवं मदानः- लोगों के जीने के ढंग को संस्कृति मानते हैं

टायलरः- संस्कृति व समग्र जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार्य, कानून तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदातों का समावेश है जो मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

हर्सकोविट्सः- इन्होंने ने संस्कृति को पर्यावरण व मानव निर्मित बताया अर्थात् सम्पूर्ण पर्यावरण संस्कृति नहीं है साथ ही पर्यावरण में से मनुष्य ने जो भी कुछ बनाया वह संस्कृति है अर्थात् संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।

टाँलकाँट पारसन्सः- इन्होंने अपनी पुस्तक ज्ीम ैवबपंस ैलेजमउ में संस्कृति को एक ऐसे पर्यावरण के रूप में परिभाषित किया जो मानव क्रियाओं के निर्माण में मौलिक हैं इसका तात्पर्य है कि संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।

मैकाइबर एवं पेजः- ‘‘संस्कृति मूल्यों, शैलियों, भावनात्मक लगावों, बौद्धिक अभियानों का संस्सार है इसलिये संस्कृति का प्रतिवाद है। संस्कृति हमारे रहने और सोचने के ढंगों, कार्य कलापों, कला, साहित्य, धर्म,

मनोरंजन और आनन्द में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।''

4.2.4. संस्कृति के सार्वभौम तत्व

क्लार्क विसलर ने मानव जाति के प्रत्येक समूह की संस्कृति में कुछ सार्वभौम तत्व माने है जैसे-(1) बोली, (2) पार्थिव उपकरण (3) कलाएँ (4) पौराणिक और वैज्ञानिक ज्ञान (5) धार्मिक रीतियाँ और अन्ध विश्वास (6) कुटुम्ब एवं विवाह (7) समाजिक नियंत्रण खेलकूद जैसी समाजिक संस्थाएं (8) सम्पत्ति मूल्य, विनिमय और व्यापार (9) सरकार और विधि (10) युद्ध।

संस्कृतिक के ये सार्वभौम तत्व सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं, परन्तु इनके रूप भिन्न-भिन्न होते हैं भिन्न-भिन्न समाजों में विवाह के भिन्न-भिन्न रूप पाये जाते है जैसे- बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह, समूह विवाह, एक विवाह आदि। खानपान में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में भारी भेद दिखाई देता है। जैसे-दक्षिण पूर्व एशिया की कुछ जातियों के लोग कोबरा आदि विषैले साँपों और अजगर की कढ़ी बड़े शौक से खाते हैं। वहीं पश्चिमी अमेजन प्रदेश के लोग बन्दर, मेढ़क और छिपकली को बड़ा स्वादिष्ट भोजन समझते है।

4.2.5. संस्कृति की विशेषताएँ

उपरोक्त परिभाषओं का अध्ययन और उसके विश्लेषण से संस्कृति के निम्नलिखित लक्षण एवं विशेषताएं प्रकट होती हैं।

(1) संस्कृति सामाजिक होती है - यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य को विशिष्ट तरीके से करता है तो वह संस्कृति के अन्तर्गत नहीं आता। लेकिन जब व्यक्ति के उसी आदत को सामाजिक स्वीकृति तथा पहचान मिल जाती है तो यह संस्कृति कहलाती है। अतः संस्कृति के लिए सामाजिक स्वीकृति सामाजिक सहभागिता तथा सामाजिक पहचान एक आवश्यक शर्त है। जो विचार मात्र एक दो व्यक्तियों की विशेषता होती है उसे संस्कृति नहीं कह सकते इसके समर्थन में हा ॅवेल महोदय कहते हैं क ''संस्कृति साझे की चीज है।'' जबकि बीयरस्टीड ने कहा है कि ''संस्कृति एक सामाजिक विरातस है। अतः किसी संस्कृति का विकास एवं क्षरण सामाजिक स्वीकृति तथा अस्वीकृति पर निर्भर करता है।

(2) संस्कृति सीखी जाती हैः- संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है यह वंशानुक्रमण से प्राप्त नहीं होता एक व्यक्ति वंशानुक्रमण से काला-गोरा, रोगी- निरोगी हो सकता है लेकिन अपनी संस्कृति उसे सीखनी पड़ती है। विभिन्न संस्थाओं आदि के सामाजीकरण के माध्यम से व्यक्ति अपने संस्कृतियों के सीखता एवं आत्मसात कर समाज उपयोगी सदस्य बनता है। सीखने की क्षमता केवल मानवों में ह नहीं वरन् पशुओं में भी होती है, परन्तु पशुओं द्वारा सीखा हुआ व्यवहार संस्कृति नहीं बन पाती है। क्योंकि यह पशुओं की संस्कृति सामूहिक व्यवहार का अंग नहीं बन पाती।

(3) संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है- संस्कृति की प्रकृति परिवर्तनीय होती है। संस्कृति में समय, स्थान एवं परिस्थितियों के सन्दर्भ में ढालने की क्षमता होती है। विभिन्न परिस्थितियों किसी व्यक्ति को कैसे अनुकूलन करना चाहिए इसका ज्ञान हमें संस्कृतियों के माध्यम से होता है। यही कारण है कि विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों, तथा कालों की अलग-अलग संस्कृति होती है। पहाड़ी क्षेत्रों की संस्कृति मैदानी क्षेत्रों से भिन्न होती है, ऊष्ण प्रदेशों की संस्कृति शीत प्रदेशां ें की संस्कृति से भिन्न होती। संस्कृति की अनुकूलन की क्षमता भी समय स्थान के सापेक्ष बदलती रहती है जैसे आदिम काल की अपेक्षा वर्तमान संस्कृति अधिक अनुकूलनीय है जबकी विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों की संस्कृति के अनुकूलन की गति मंद होती है। अतः अनुकूलन करने की संस्कृति की क्षमता संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषता है।

(4) संस्कृति हस्तान्तरणीय होती है- चूँकि संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है। अतः इसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी, एक समूह से दूसरे समूह, तथा इससे बढ़कर एक युग से दूसरे युग तक की भी संस्कृति हस्तान्तरणीय होती है। आज मानव यदि सर्वश्रेष्ठ प्राणी होने का दावा करता है तो उसका सबसे बढ़ा कारण उसकी सांस्कृति हस्तान्तरण करने की क्षमता है। मनुष्य अपनी शिक्षा, तथा ज्ञान विज्ञान के माध्यम से अपनी संस्कृतियों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। जिससे संस्कृति समान्यतः और अधिक उपयोगी और समृद्ध हो जाती है। संस्कृतियों का निर्माण अन्य नीवों द्वारा भी होती हैं लेकिन हस्तान्तरण की क्षमता केवल मनुष्यों के ही पास है।

(5) संस्कृति समन्वयकारी होती हैः- संस्कृति में समन्वयकारी गुण पाये जाते हैं। संस्कृति विभिन्न क्षेत्रीय विभिन्नताओं आपस में जोड़ने का कार्य करती है। अपनी इसी गुण के कारण ही भारतीय संस्कृति को अनेकता में एक ता वाली संस्कृति कहा जाता है। भारत में लोक संगीत को जितना महत्व मिलता है उतना ही रॉक संगीत को, विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय एवं भाषा-भाषियों के मध्य जो एकता पायी जाती है उसके पीछे भारतीय संस्कृति को समन्वयकारी गुण ही है।

(6) संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती हैः- प्रत्येक संस्कृति अपने समूह के लिये आदर्श होती है। समाज को प्रत्येक सदस्य अपने संस्कृति के अनुरूप ही आचरण करता है। एक ही क्षेत्र मे रहने वाले लोग अपनी-अपनी संस्कृति के आधार पर अलग-अलग आचरण एवं व्यवहार करते हैं। प्रत्येक धर्म के उपासकों का आचरण एक साथ रहते हुये अपनी संस्कृति के अनुसार अलग-अलग होता है। किसी हिन्दू की मंदिर में उपासना की पद्धति, किसी मुसलमान के मस्जिद के अजान की पद्धति अलग-अलग होती है। हिन्दू अपना हाथ धुलते समय कोहनी की तरफ से पानी डालते हुये पंजे की तरफ पानी गिराता है जबकि मुस्लिम पंजे के तरफ से पानी डालते हुये कोहनी की तरफ पानी गिराता है। ये संस्कृतियाँ भिन्न होते हमें अपने समूह के लिये आदर्श होती है।

(7) संस्कृति विशिष्ट होती है- प्रत्येक समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं भौगोलिक दशाओं के सन्दर्भ में अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है। प्रत्येक समाज की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं जिसकी पूर्ति के लिए ही

भिन्न प्रकार के आचार, नियम तथा अविष्कार किये जाते है। जो अपनी संस्कृति को विशिष्टता प्रदान करती है। इन्हीं विशिष्टता के आधार पर ही हम भारत की संस्कृति को अमेिरका, चीन, रूस आदि की संस्कृति से अलग करते है। यदि धोती-कुर्ता भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है तो सूट-बूट, टाई पाश्चात्य देशों की।

(8) संस्कृति व्यक्त्वि निर्माण में महत्वपूर्ण होती है- प्रत्येक व्यक्ति का पालन- पोषण अपनी एक विशिष्ट संस्कृति वातावरण में होती है। वह बालक सामाजीकरण के माध्यम से अपने समाज में प्रचलित रीत-रिवाज, धर्म दर्शन, कला, विज्ञान व व्यवहारों को सीखता है जिससे ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यही कारण होता है कि ग्रामीण संस्कृति में पला-बढ़ा बच्चा और नगरीय संस्कृति में पले-बढ़े बच्चों के व्यक्तित्व में अन्तर होता है। भारतीय संस्कृति में पले बच्चों और जापानी संस्कृति में पले बच्चों में व्यक्तित्व को हम संस्कृति के आधार पर भिन्न पाते हैं।

(9) संस्कृति अधि-वैयक्तिक एवं अधि-सावयवी हैः- सस्कृति सम्बन्धी इस विशेषता व अवधारणा का उल्लेख क्रोबर महोदय ने दिया है। अधि वैयक्तिक से उनका तात्पर्य है कि किसी भी संस्कृति का निर्माण कोई एक व्यक्ति नहीं करता। प्रत्येक संस्कृति के निर्माण में समाज के प्रत्येक सदस्यों का योगदान होता है। कभी-कभी समाज को कुछ ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व होते है जो किसी खास सांस्कृतिक पक्ष को इतना बढ़ावा देते हैं कि हमें भ्रमवश लगाता है कि इस संस्कृति का निर्माण उनके द्वारा ही हुआ है। लेकिन ऐसा नहीं होता क्योंकि वह संस्कृति पहले से दो समाज में किसी न किसी रूप में रही है। जैसे अहिंसा की संस्कृति के साथ महात्मा गाँधी का नाम। लेकिन इनसे पहले ही हमारे धार्मिक ग्रन्थों में तथा बौद्ध एवं जैन धर्म में आदि में अहिंसा से सम्बन्धित विस्तृत व्याख्या है। इस प्रकार संस्कृति अधि वैयक्तिक तथा अति सावयवी है।

(10) संस्कृति आवश्यकता पूर्ति में सहायक हैः- संस्कृति हमारी आवयकता पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संस्कृति की इस विशेषता पर संस्कृतिक प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों की विस्तृत विवेचना है। जैसे- मौलिनोवास्की तथा रैडक्लिफ ब्राउन जैसे प्रकार्यवादियों का मानना है क संस्कृति का कोई भी तत्व बेकार नहीं होता, वह मानव के किसी न किसी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करता है। मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अविष्कार होते हैं, जो आगे चलकर संस्कृति का अंग बन जाते हैं।

4.2.6. संस्कृति की संरचना व उपादान

संस्कृति अपने आप में एक समगे्र अवधारणा है। लेकिन संस्कृति का निर्माण उसके विभिन्न निर्माणकारी अंगों के पारस्परिक संगठन व सम्बन्धों से होता है, जो निम्नलिखित हैः-

1-सांस्कृतिक तत्व,

2-सांस्कृतिक संकुल,

3-सांस्कृतिक प्रतिमान

4-सांस्कृतिक क्षेत्र

1. सांस्कृतिक तत्व:-

सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की सबसे छोटी व परिभावित इकाई है जिसका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता है। क्योंकि और अधिक विभाजन से यह अपना मूल अर्थ खो देती है। सांस्कृतिक तत्व की तुलना, किसी भौतिक पदार्थ की सूक्ष्मतम इकाई 'परमाणु' तथा मानव शरीर की सूक्षतम इकाई 'कोशिका' से की जा सकती है। जो अर्थपूर्ण एवं अविमान्य है। सांस्कृतिक तत्व को हम निम्नलिखित परिभाषाओं के माध्यम से और अधिक स्पष्ट तरीके से समझ सकते हैं- क्रोबर-''सांस्कृतिक तत्व संस्कृति का अल्पतम परिभावित तत्व है।'' जबकि डॉ.एस.सी.दूबे लिखते हैं कि ''सांस्कृतिक तत्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यवहारिक इकाईयाँ मान सकते हैं।'' हर्षकोविट्स इसको एक निर्दिष्ट संस्कृति में पहचानी जा सकने वाली सबसे छोटी इकाई माना। जेकब्स तथा स्टर्न के अनुसार, ''सांस्कृतिक तत्व संस्कृति का वह अविष्कृत तथा हस्तान्तरित इकाईयाँ हैं जिनको विवरण तथा सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए विभिन्न भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता है।''

इस प्रकार सांस्कृतिक तत्वों की परिभाषाओं की विवेचना व अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की सूक्ष्तम, अर्थपूर्ण तथा अविभाज्य इकाई है। जिस प्रकार संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक पक्ष होते है, वैसे ही सांस्कृतिक तत्व के भी भौतिक एवं अभौतिक पक्ष है जैसे- भौतिक पक्ष में पेन, रेडियो, पंखा, साइकिल आदि। यहाँ यदि साइकिल का विभाजन कर उसकी, चैन या हैण्डिल को निकाने पर साइकिल अर्थपूर्ण नहीं रह जायेगी ऐसा ही पेन और रेडियों के साथ भी है। ऐसे ही सांस्कृतिक तत्वों के अभौतिक पक्षों में, हाथ मिलाना, गले लगाना, मूर्तियों पर गंगाजल छिड़कना, कोई शब्द, संकेत आदि है। किसी संस्कृति के अर्थ एवं विशेषता को पूर्णरूप से समझने के लिए उसके सांस्कृतिक तत्वों को समझना आवश्यक शर्त है। अतः इन विवेचनाओं के आधार पर हमंे सांस्कृतिक तत्वों की निम्नलिखित विशेषताएं देखने को मिलती हैं-

(i) प्रत्येक सांस्कृतिक तत्वों की उत्पत्ति का एक इतिहास होता है। चाहे छोटा या बड़ा हो।
(ii) गतिशीलता सांस्कृतिक त्व की विशेषता है, यह संस्कृति की भाँति स्थिर नहीं होते। कभी-कभी सांस्कृतिक तत्वों में परिवर्तन संस्कृतियों में भी परिवर्तन ला देते हैं।
(iii) सांस्कृतिक तत्व स्वतंत्र नहीं रहते वरन् अन्य तत्वों के साथ संयुक्त होकर रहते हैं। अनेक सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन संस्कृति के अध्ययन को अर्थपूर्ण बनाता है। क्रोबर तथा टायलर जैसे विद्वानों ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्वों के माध्यम से ही किया है।

2. संस्कृति संकुलः-

संस्कृति संकुल का निर्माण विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों के अर्थपूर्ण संयोजन से होता है। जैसे विभिन्न कोशिकाओं से शरीर का निर्माण होता ै, कई परिवारों के संयोजन से समाज व समुदाय का निर्माण होता है वैसे ही कई सांस्कृतिक तत्वों के संयोजन से संस्कृति संकुल का निर्माण होता है। दा ॅबेक के अनुसार- ''संस्कृति संकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।'' डा ॅ0 एस0सी0 दूबे ने संस्कृति संकुल को परिभाषित करते हुये लिखा है कि, ''संस्कृति संकुल, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि समान धर्मों एवं पूरक संस्कृति-संकुल, सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो इनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर संगठित होने से बनता है। इस प्रकार जब सांस्कृतिक तत्व परस्पर अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ कर मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो हम उसे संस्कृति-संकुल कहते है। जैसे-किसी मूर्ति के सम्मुख झुकना उस पर जल छिड़कना, प्रसाद चढ़ाना, दीपक जलाना तथा आरती करना आदि सांस्कृतिक तत्व मिलकर धार्मिक संस्कृति संकुल का निर्माण करते हैं। ऐसी ही किसी खेल संस्कृति संकुल के अन्तर्गत, गेंद, स्टिक, रेफरी की सीटी, खिलाड़ी की पोशाक खेल के विभिन्न नियम आदि सांस्कृतिक तत्व आते है। गिडिंग्स ने संस्कृति संकुल को संस्कृतिक तत्वों का प्रकार्यात्म सम्मिलन कहा है। संस्कृति संकुल में सांस्कृतिक तत्व परस्पर प्रकार्यात्मक क्रिया करते हुये एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार प्रतिमान जन्म देते हैं। संस्कृति तत्वों एवं संकुलों से मिलकर ही संस्कृति विशेष का जन्म होता है। पारसन्स ने प्युबलो इण्डियनों के धार्मिक अनुष्ठानों और वेनेडिक्ट ने उत्तरी अमेरिका मे संरक्षक प्रेताम के चारों ओर केन्द्रित अनुष्ठानों और विश्वासों के संकुलों का अध्ययन किया।

3. संस्कृति प्रतिमानः-

जब सांस्कृतिक तत्व एवं संकुल मिलकर प्रकार्यात्मक भूमिकाओं में परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं तो उसे संस्कृति प्रतिमान कहते हैं। संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा का विकास रूथ वेनीडिक्ट ने अपनी पुस्तक पैटर्न आफ कल्चर में दिया और कहा कि, ''सांस्कृति प्रतिमान, एक संस्कृति तत्वों की वह डिजाइन है जो कि उस समाज के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के इस तरीके को सम्बद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टा प्रदान करता है। ''वेनेडिक्ट के अनुसार संस्कृति प्रतिमान आदर्श एवं प्रेरक सिद्धांत जिसे सभी लोग स्वीकार करते है जो मानव व्यवहार को निर्देशित एवं निर्धारित करती है। उदाहरण के लिए प्युबलो इण्डियन लोगों की संस्कृत सुव्यवस्था, अनुशासन तथा व्यक्तिगत दिखावें पर जोर देती हे। जबकि डोबू संस्कृति के लोग शंकालु, धोखेबाज व संघर्षशील प्रकृति के होते हैं। इसका कारण उनका संस्कृति प्रतिमान है। सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड के शब्दों में, ''सम्पूर्ण संस्कृति के एक प्रकार का समान्यीकृत चित्र के रूप में संकुलों का एक संग्रह संस्कृति प्रतिमान है।'' क्लार्क विसलर ने 9 आधार मूलक सांस्कृतिकतत्वों का उल्लेख किया जो संस्कृति प्रतिमानों का निर्माण करती है। जबकि किम्बल यंग ने 13 तत्वों को सार्वभौमिक में सम्मिलित किया।

सांस्कृतिक क्षेत्र:

उस भौगोलिक क्षेत्र को संस्कृहित क्षेत्र कहा जाता है जिसमें संस्कृति के तत्व व संकुल समान रूप से पाये जाते है। संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा क्लार्क विश्रलर ने दी और बताया कि, ''संस्कृति क्षेत्र एक भौगोलिक क्षेत्र है जिसमें समान संस्कृतियों वाले अनेक सापेक्षिक रूपसे स्वतन्त्र समुदाय रहते हैं'' हर्स कोविट्स के शब्दों में, ''उस क्षेत्र को जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती है, एक संस्कृति क्षेत्र कहलाता है। डाॅ0 एस0सी0 दूबे लिखते हैं क, ''कतिपय संस्कृति तत्व और संस्कृत संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं।

अतः परिभाषाओं की विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृति क्षेत्र का तात्पर्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र से है जहाँ पर समान संस्कृति तत्व व संकुल का विकास एवं प्रसार हुआ है। भिन्न-भिन्न संस्कृति क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ पायी जाती है। लेकिन कुछ ऐसे संस्कृति तत्व व संकुल है जो एक से अधिक संस्कृति क्षेत्रों में पायी जाती हैं। चूंकि संस्कृति तत्व एवं संकुल में प्रसारित होने का गुण पाया जाता है अतः वह दूसरे संस्कृति क्षेत्रों के सम्पर्क में आकर उसकी विशेषताओं को ग्रहण कर लेती है। लेकिन उनके मूल स्वरूप की पहचान उने मूल संस्कृति क्षेत्र में ही की जा सकती है। बिसकर की मान्तय है कि प्रत्येक संस्कृति क्षेत्र में वह केन्द ढूँढ़ा जा सकता है जहाँ संस्कृति तत्व व संकुल का प्रसार हुआ है।

इसी आधार पर विसलर एवं क्रेबार महोदय ने अमेरिका के आदिवासी क्षेत्रों को 15 स्वतन्त्र संस्कृति क्षेत्रों में विभाजित किया। इसी तरह हर्स कोविट्स ने अफ्रीका को नौ संस्कृति क्षेत्रों में विभाजित किया। संस्कृति तत्वों के प्रसार में जंगल, पर्वत, रेगिस्तान, समुद्र आदि बाधाऐं है। जबकि यातायात के साधन एवं संचार सहायक है।

इस प्रकार संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा से उन केन्द्रों को ज्ञात करना सरल हो जाता है। जहाँ संस्कृति तत्व एवं संकुल अपने मूल रूप में पाये जाते है। लेकिन यातायात एवं संचार साधनों के विकास ने संस्कृति तत्व तथा संकुल के प्रसार को इतना तीव्र कर दिया कि इसे किसी निश्चित भू-भाग तक सीमित रख पाना मुश्किल हो गया है।

(1) संस्कृति के प्रकार:

अपने विश्लेषण में भागबर्न ने संस्कृति को दो भागों में विभाजित कर संस्कृति का अध्ययन किया भौतिक संस्कृत एवं अभौतिक संस्कृति।

(1) भौतिक संस्कृति - भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत अगवर्न ने उन वस्तुओं को रखा जिसका निर्माण मानव द्वारा मूर्त रूप में किया गया। जिसे हम देख सकते हैं, छू सकते है तथा जिसका समान्यतः स्थान थी परिवर्तित हो सकता है जैसे- घर, घड़ी, पेन, पंखा, साइकिल, मोबाइल, रोबोट, मानव निर्मित उपग्रह आदि। भौतिक संस्कृति की संख्या आदिम एवं ग्रामीण समाज में कम एवं विकसित एवं नगरीय समाज में अधिक पायी जाती है। इस प्रकार भौतिक संस्कृति में निम्नलिखित विशेषताएँ होती है-

(1) भौतिक संस्कृति शीघ्र परिवर्तनीय होती है।

(2) भौतिक संस्कृति के बिना परिवर्तन के स्थानान्तरण किया जा सकता है।

(3) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है इसलिये इसे मापा जा सकता है।

(4) भौतिक संस्कृति अधिक संचयी होती है।

(5) भौतिक संस्कृति को उपयोगिता एवं लाभ को सरलता से मापा जा सकता है।

(2) अभौतिक संस्कृति:

संस्कृति का दूसरा पक्ष अभौतिक का है। अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत ऐसी संस्कृति आती है जिसे हम देख नहीं सकते, छू नहीं सकते यह अमूर्त होती है, जैसे-धर्म, रीति-रिवाज रूढ़ियां, आचार-विचार आदि। हा‌ॅलाकि मैकाइवर जैसे कुछ विद्वान अभौतिक पक्ष को ही वास्तविक संस्कृति मानते हैं। सोरोकिन ने इसे भावात्मक संस्कृति कहा। अतः अभौतिक संस्कृति की निम्नलिखित विश्ेाषताएँ है-

1. यह अमूर्त होती है; अतः इसे मापना कठिन होता है;
2. अभौतिक संस्कृति जटिल होती है;
3. इसमें परिवर्तन बहुत कम व धीमी गति से होता है।
4. अभौतिक संस्कृति का संबंध मानव के आध्यात्मिक तथा आन्तरिक जीवन से होता है।
5. संस्कृति प्रसार के दौरान अभौतिक संस्कृति को उसी रूप में स्थानान्तरण व ग्रहण नहीं किया जा सकता।
6. अभौतिक संस्कृति की उपयोगिता एवं लाभ को मापा नहीं जा सकता।

इस प्रकार आगर्बन ने भौतिक एवं अभौतिक विवरण के माध्यम से एक सम्पूर्ण संस्कृति को व्याख्या करने का प्रयास किया और अपने पुस्तक ैवबपंस ब्ीांदहम (1922) में सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धांत प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार जब भौतिक संस्कृति की तुलना में अभौतिक संस्कृति परिवर्तन के दौड़ में पीछे रह जाती है तो ऐसी दशा सांस्कृतिक विलम्बना कहलाती है। सन् 1947 में अपनी पुस्तक । में आगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना की परिभाषा में कुछ परिवर्तन करते हुये कहा कि ‘‘सांस्कृतिक विलम्बना वह तनाव है जो तीव्र और असमान गति से परिवर्तित होने वाली संस्कृति की दो परस्पर सम्बन्धित भागों में विद्यमान होता है।’’ इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि भौतिक संस्कृति की अपेक्षा अभौतिक संस्कृति में कम परिवर्तन होने की स्थिति को ही हम सांस्कृतिक विलम्बना नहीं कहते बल्कि संस्कृति के दो भागों में से किसी एक के आगे निकल जाने की स्थिति को सांस्कृतिक विलम्बना कहा जाता है।

अमरीकी मानवशास्त्री विद्वान लिटन ने अपनी पुस्तक में संस्कृति के तीन प्रकारों की चर्चा की जो इस प्रकार है-

(1) सांस्कृतिक सार्वभौमः

समाज में कुछ ऐसे सांस्कृतिक तत्व होते है जो समाज के सभी सदस्यों के लिए समान रूप से आवश्यक होते हैं, जिसमें समाज के सभी लोग सहभागी होती है तथा सभी के लिए समान महत्व के होते हैं, उन्हें ही सांस्कृतिक सार्वभौम कहा जाता है। जैसे-झूठ न बोलना, बड़ों का सम्मान करना, चोरी न करना गरीबों की मदद करना आदि।

(2) सांस्कृतिक विकल्पः

जब कभी समाज में किसी आचरण व कार्य व्यवहार के लिएएक से अधिक आचरणों को स्वीकृति प्राप्त होती है तो उसे सांस्कृतिक विकल्प कहते है। सांस्कृतिक विकल्प प्रायः उस समाज की संस्कृति की विशेषता होती है जो, भिन्न-भिन्न, संस्कृतियों को पराश्रय देता है। जैसे-अमेरिका की संस्कृति एवं भारत आदि की संस्कृति। यहाँ पर किसी को सम्मान देने के लिए हिन्दू हाथ जोड़कर प्रणाम करता है, मुस्लिम हाथ उठाकर सलाम करता है। यहाँ विवाह चाहे कोर्ट में हो, मंदिर में हो या गिरजाघर में हो समाज सभी को बराबर मान्यता देता है। इस प्रकार व्यक्तियों को जब सांस्कृतिक तत्वों के चयन की आजादी होती है तो लिटन ने उसे ही सांस्कृति विकल्प कहा।

(3) सांस्कृतिक विशिष्टताएँ

वृहद संस्कृति के अन्तर्गत छोटी-छोटी उप संस्कृतियाँ पायी जाती है जिसमें समाज के सभी लोग समान रूप से भागीदारी नहीं करते, उन्हीं उप संस्कृतियों को लिटन ने सांस्कृतिक विशिष्टाएँ कहते हैं। जैसे-एक ही समाज में रहने वाले हिन्दू, मुस्लिम एवं सिक्ख, ईसाई आदि की पूजा, उपासना तथा इबादत का तरीका अलग-अलग होता है। जो इनकी उप-संस्कृतियों के आधार पर होता है।

इस प्रकार स्थिरता, परिवर्तनशीलता, प्रसार तथा प्रकार्य के आधार संस्कृतियों का विभाजन विभिन्न विद्वानों ने किया जो हमारे संस्कृति सम्बन्धी अध्ययन को आधार प्रदान करते हैं।

4.2.7. संस्कृति के कार्य या महत्व

संस्कृति मानव तथा मानव समाज के कार्यों की दिशा एवं दशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अतः संस्कृत के महत्व को हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते है-

1-व्यक्ति के संदर्भ मे संस्कृति के कार्य; तथा

2-समूह के सन्दर्भ में संस्कृति के कार्य।

(1) व्यक्ति के संदर्भ मे संस्कृति के कार्य:

व्यक्तियों के सन्दर्भ में संस्कृति के निम्नलिखित कार्य हैंः-

1. संस्कृति मानव की विभिन्न शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुये विभिन्न अविष्कार आगे चलकर संस्कृति का अंग बन जाते हैं।
2. संस्कृति व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती है। समाजीकरण द्वारा तथा समाजिक सहभागिता द्वारा व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है।
3. संस्कृति भारत को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है तथा मानवीय आचरणों का निर्धारण करती है।
4. संस्कृति मानवीय नैतिकता का निर्धारण करती है। समाज में उचित-अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के ही आधार पर होता है।
5. सामाजिक रीति-रिवाज, प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों एवं आदर्शों के सन्दर्भ में व्यक्ति द्वारा किये गये आचरण से व्यक्ति के व्यवहारों में एकरूपता आती है जिससे समाज में सामाजिक संघर्ष कम होता है।

(2) समूह के सन्दर्भ में संस्कृति के कार्य:

1- संस्कृति सामाजिक सम्बन्धों को स्थिरत रखती है।

2- संस्कृति व्यक्ति के दृष्टिकोण को विकसित कर देती है।

3- संस्कृति नई आवश्यकताओं को उत्पन्न करती है।

4- संस्कृति ही प्रस्थित एवं भूमिका का निर्धारण करती है।

5- संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण में सहायक है।

इस प्रकार संस्कृति अपने ज्ञान-अनुभव तथा मूल्यों-मानदण्डों तथा जनरीतियों एवं प्रथाओं जैसे तत्वों व संस्थाओं के माध्यम से व्यक्त एवं समाज विकास एवं समन्वय को बढ़ावा देने का कार्य करती तथा समाज को नयी दिशा भी प्रदान करती है।

4.2.8. बोध प्रश्न

1. संस्कृति की परिभाषा लिखिये और उनकी दो प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
2. संस्कृति की अवधारणा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
3. संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। इस कथन की पुष्टि कीजिये।
4. संस्कृति की मानव जीवन में क्या भूमिका है स्पष्ट कीजिये।
5. टिप्पणी लिखिये -

   (क) भौतिक संस्कृति

   (ख) अभौतिक संस्कृति

   (ग) सांस्कृतिक विलम्बना

(घ) सांस्कृतिक प्रतिमान

4.2.9. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पाण्डेय, एस.एस. (2009). *समाजशास्त्र*. नई दिल्ली: टाटा मेग्रा हिल.
2. पाण्डेय, गया. (2008). *भारतीय समाज*. नई दिल्ली: राधा प्रकाशन.
3. शर्मा, जी.एल. (2012). *समाजशास्त्र*. आगरा: उपकार प्रकाशन.
4. गुप्ता, एल.एम. एवं शर्मा, डी.डी. (2005). *समाजशास्त्र*. आगरा: साहित्य भवन प्रकाशन.

इकाई-3 सभ्यता : अर्थ, परिभाषा एवं संस्कृति तथा सभ्यता में अंतर

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य

4.3.1. प्रस्तावना

4.3.2. भूमिका

4.3.3. अवधारणा तथा परिभाषा

4.3.4. सभ्यता की विशेषता

4.3.5. संस्कृति और सभ्यता में अन्तर

4.3.6. संस्कृति और सभ्यता में संबंध

4.3.7. बोध प्रश्न

4.3.8. संदर्भ ग्रंथ सूची

4.3.0. उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप:

1. सभ्यता की परिभाषा बता सकेगें।
2. सभ्यता की अवधारणा समझ सकेगें।
3. सभ्यता की विशेषताओं को पहचान सकेगें।
4. संस्कृति और सभ्यता में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे।
5. संस्कृति और सभ्यता में संबंध ज्ञात कर सकेंगे।

4.3.2. प्रस्तावना /भूमिका

सभ्यता शब्द का प्रयोग मानव समाज के एक सकारात्मक प्रगतिशील और समावेशी समाज को इंगित करने के लिये किया जाता है। सभ्य समाज अक्सर उन्नत कृषि, लम्बी दूरी का व्यापार, व्यवसायिक विशेषज्ञता, नगरीकरण आदि की उन्नति स्थिति का द्योतक है। इन मूल तत्वों के अलावां सभ्यता कुछ माध्यमिक तत्वों जैसे विकसित यातायात व्यवस्था, लेखन, मापन के मानक संविदा एवं नुकसानी पर आधारित विधि व्यवस्था कला के महान शैलियों, स्मारकों स्थापत्य, गणित, उन्नत धातुकर्म एवं खगोल विद्या आदि की स्थिति में भी परिभाषित होता है।

4.3.3. अवधारणा तथा परिभाषा

सभ्यता का शब्दार्थ-सभ्य सभा या समूह है सभ्यता मनुष्य की भौतिक क्षेत्र की प्रगति सूचित करती हैं। सभ्यता में भौतिक पक्ष प्रबल होते हैं। सभ्यता बताती है कि हमारे पास क्या है।

इस प्रकार सभ्यता का आशय समूची यंत्र पद्धति और उसके संगठन से है जिसकी मानव ने अपने जीवन की परिस्थितियों पर नियंत्रण प्राप्त करने के प्रयास में रचना की है इस प्रकार पेन, पेंसिल, मकान, हवाई, जहाज, पंखे, कार, स्कूल आदि सभी सभ्यता की द्योतक वस्तुएं हैं। सभ्यता सांस्कृतिक विकास के स्तर को प्रकट करती है। यह किसी मानवीय समाज की विशिष्ट मानवीय उपलब्धी तथा गुणों का संकेत देती है। संस्कृति से सभ्यता जैसे शब्द का बहुत नजदीकी संबंध रहा है। कभी-कभी तो दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। आंग्ल फ्रेंच चिन्तन में संस्कृति और सभ्यता का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है। जर्मन भाषा में ब्पअपसप्रंजपवद कों पअपसप्रंजपवद कहा जाता है। जिसका अभिप्रायः सामाजिक व्यवस्था से है। सभ्यता का अधिकतम प्रयोग इतिहासकार ही करते हैं तभी तो टायनवी ने अपने पुस्तक I 'AStudy pof History' में 21 प्रकार की सभ्यताओं की चर्चा की है।

समाजशास्त्र में सभ्यता और संस्कृति में अन्तर स्पष्ट करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति एलफ्रिड बेवर हैं बाद में मैकाइवर एवं पेज ने भी इस कार्य को गति दी।

सभ्यता का अर्थ:

अंग्रेजी भाषा के Civilized शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Civitas और Civis से हुई है जिसका अर्थ नगर या नगर निवासी है जो एक स्थान पर स्थायी रूप से रहते हैं तथा शिक्षित है और जिनका व्यवहार जटिल है।

फिचर:- एक सभ्य समाज के लोग घुमन्तु जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा बड़ी संख्या में स्थायी निवासी बनकर रहते हैं उनकी लिखित भाषा होती है उनमें कार्य विभाजन व विशेषीकरण पाया जाता है। इनका व्यवहार औपचारिक रूप से आदिम समाजों की अपेक्षा संस्थाकृत और जटिल होता है।

टायलरः- सभ्यता मानव जाति की वह विकसित अवस्था है जिसमें उच्च श्रेणी के व्यक्तिक एवं सामाजिक संगठन पाये जाते है। जिसका उद्देश्य मानव के गुणों शक्ति और प्रसन्नता में वृद्धि करना है।

गिलिन एवं गिलिनः- संस्कृति के अधिक जटिल और विकसित रूप को ही सभ्यता कहा है।

मेकाइबर पेजः- सभ्यता में उन भौतिक तत्वों को गिनते है जो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है और जो हमारे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सभ्यता से तात्पर्य उस सम्पूर्ण यंत्र पद्धति और संगठन से है जिसको मनुष्य ने अपने जीवन की दशाओं को नियंत्रित करने के लिये निर्मित किया है।

ब्रुक्स एडमः- सभ्यता को अनिवार्य रूप से एक अति विकसित संगठन मानता है उसकी अवधारणा में शासकीय सत्ता द्वारा किसी क्षेत्र पर स्थिर व्यवस्था का विचार निहित है।

अर्नाल्ड टायनबीः- सभ्यता अनिवार्यता एक धार्मिक एवं नैतिक प्रणाली है जो राज्य तथा राष्ट्र में प्रायः विशालता क्षेत्र में प्रचलित है।

4.3.4. सभ्यता की विशेषता

इस प्रकार उपरोक्त परिभाषाओं से सभ्यता की निम्नलिखित विशेषताएँ ज्ञात होती है-

1. सभ्यता में हम मानव निर्मित भौतिक वस्तुओं को सम्मिलित करते है।
2. सभ्यता मूर्त होती है।
3. सभ्यता मानवीय आवश्यकताओं का पूर्ति का साधन है यह मानव को आनन्द और सन्तुष्टि प्रदान करती है।
4. सभ्यता संस्कृति के विकास के उच्चतर स्तर को व्यक्ति करती है।
5. सभ्यता प्रगतिशील है और सदैव आगे बढ़ती है।
6. सभ्यता में परिवर्तन शीघ्र होता है।
7. सभ्यता का हस्तान्तरण एवं प्रसाद सरलता से होता है।

सभ्यता का विकास

सभ्यता के जन्म सम्बंधी विचार के प्रणेता अंग्रेज इतिहासकार सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत के समर्थक अर्नाल्ड जे0 टाइनबी है। इन्होंने दुनिया को 21 प्रमुख सभ्यताओं का गहन अध्ययन किया जिसका उल्लेख उनकी पुस्तक ‘A Study of History (1934.63)’ में मिलता है। उनका मानना है कि हर सभ्यता का एक चक्रीय रीति से जन्म और मृत्यु होती है। उनका यह सिद्धांत चुनौती एवं प्रतिक्रिया का सिद्धांत पर आधारित है। किसी भी सभ्यता को चुनौती दो क्षेत्रों से मिलती है- एक भौगोलिक परिस्थिति व दूसरी सामाजिक परिस्थिति।

प्रत्येक सभ्यता के प्रारम्भ में लोगों को समाज की भौगोलिक परिस्थितियों के चलते बहुत प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं को झेलना पड़ता है इन चुनौतियों को झेलना कोई आसान काम नहीं होता है समाज व प्रकृति के बीच जो एक चुनौतीपूर्ण स्थिति होती है उसका सामना करने के लिए मनुष्य को विभिन्न प्रकार की क्षमताओ की आवश्यकता होती है इस अस्तित्व की लड़ाई में उसकी शक्ति का ह्रास होता है।

दूसरी चुनौती भौगोलिक न होकर सामाजिक होती है इस चुनौती का स्त्रोत आन्तरिक एवं बाह्य दोनो होता है। टायनबी का आन्तरिक स्त्रोत से तात्पर्य स्वदेशी सर्वहारा वर्ग से है जो ज्यादा लम्बे समय तक अपने ही समाज के सृजनशील अल्पसंख्यको के इशारे पर काम नहीं करना चाहता है, फलस्वरूप दोनों के बीच तनाव व संघर्ष उत्पन्न होता है। बाह्य स्त्रोतो के अन्तर्गत उन्होंने बाहरी आक्रमणकारी बर्बर जाति के लोगों को रखा है जिसे बाह्य सर्वहारा वर्ग भी कहा जाता है। दूसरे शब्दों में जब सभ्यता का विकास होता है तो उस

सभ्यता को सृजनशील अल्पसंख्यको एवं स्वदेशी सर्वहारा वर्ग के संघर्ष मात्र से ही खतरा नहीं होता है बल्कि पड़ोसी बर्बर जाति के लोगों से भी खतरा रहता है जब इस प्रकार के कलह व तनाव की स्थिति किसी सभ्यता के सामने उत्पन्न होती है तो वह पतन व विखराव की ओर बढ़ने लगता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सभ्यता का भविष्य सृजनशील अल्पसंख्यको पर निर्भर करता है। सभ्यता के आरम्भिक काल में वे कल्पनाशील, शक्तिशाली व चुनौतियो का बहादुरी के साथ मुकाबला करने वाले होते हैं। नेतृत्व की रचनात्मक क्षमता के कारण सम्बन्धित समाज-विकास के चरमोत्कर्ष विन्दु पर पहुंच जाता है। लेकिन जब वे चुनौतियों का ठीक से सामना नहीं कर पाते है तो सभ्यता का पतन निश्चितहो जाता है।

सभ्यतावादी दृष्टिकोण

सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन सभ्यता को केन्द्र बिन्दु मानते हुए किया जाता है चूँकि सभ्यता के निश्चित मापदण्ड है अतः इसके द्वारा किये जाने वाले अध्ययन अधिक वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक प्रकृति के होते हैं। विभिन्न समाजो के अध्ययन ने यह परिप्रेक्ष्य अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। भारतीय समाज के सन्दर्भ में एन.के. बोस एवं सुरजीत सिन्हा ने इस परिप्रेक्ष्य को अपनाया। इनका कहना है कि यदि हम भारतीय समाज को समझना चाहते हैं तो भारतीय सभ्यता को समझना अनिवार्य है। सभ्यता ही समाज का दर्पण है तथा इसी से समाज की संरचना एवं विशिष्ट लक्षणो का परिचय प्राप्त होता है।

सभ्यतावादी दृष्टिकोण का तात्पर्य उस सम्पूर्ण व्यवस्था व संगठन के अध्ययन से है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी जीवन दशाओ को नियंत्रित करने के क्रम में करता है, सभ्यता परिप्रेक्ष्य साधनो से जुड़ा है इसलिए वह अपने चरित्र से बहिर्मुखी अथवा बाह्य एवं उपयोगिता मूलक है।

निर्मल कुमार बोसः- (1901)

बोस ने सभ्यता को विभिन्न आयामों की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है यदि सभ्यता का मानवशास्त्रीय अर्थ स्वीकार किया जाता है तो इसका तात्पर्य एक समय विशेष के लोगों के खानपान, रहन-सहन, भवन एवं सड़क निर्माण, सार्वजनिक स्थानो, तालाबो, उद्योगो के संगठित रूप से है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि हड़प्पा मोहनजोदड़ो की सभ्यता तो इसका तात्पर्य इन दोनों स्थलो पर एक समय विशेष में किये गये भौतिक निर्माण, कृषि व्यापार, उद्योग, राजनीतिक व्यवस्था, धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था से है। बोस का विचार था कि संस्कृति के समक्ष मानव पूर्णतया निष्क्रय नहीं होता, वह संस्कृति में बदलाव लाने में भी सक्षम है। इतिहास के पन्ने ऐसे उदाहरणो से भरे पड़े हैं जब किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों ने संस्कृति के प ्रवाह को बदल दिया है।

यदि हम सभ्यता को समाजशास्त्रीय अर्थ के रूप में विवेचित करते हैं तो पाएंगे कि समाजशास्त्रियों ने मानव के चारो ओर निर्मित वातावरण में दो बातें प्रमुखता पाई है एक अभौतिक जैसे- प्रथाएं, परम्पराएं आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्थाएं जिन्हें संस्कृति कहा गया है। तथा दूसरा पर्यावरण का भौतिक पक्ष जैसे मकान, घड़ी, पैन मशीने, पुस्तकें आदि जिनको सभ्यता कहा गया।

बोस ने सभ्यता का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उन्होंने संस्कृतियों के विश्लेषण व वर्गीकरण में हिन्दू ग्रन्थों की कसौटियों को प्रयोग करने का सुझाव दिया। उनके अनुसार केवल भौतिक वस्तुएं ही किसी सभ्यता का एकमात्र आइना नहीं होती अतः उस समय केवल ज्ञान पर भी ध्यानदिया जाना आवश्यक है।

इस प्रकार बोस ने सभ्यता की संरचना पर कार्य कर इसकी परिवर्तनशीलता की प्रकृति को उजागर किया।

सुरजीत सिन्हा (1926)

राबर्ट रेडफिल्ड के शिष्य सिन्हा सभ्यतावादी दृष्टिकोण के प्रबल समर्थक है। आपका कहना है कि यदि हम भारतीय समाज को समझना चाहते हैं तो यहाँ की सभ्यता को जानना आवश्यक है। सभ्यता ही समाज का दर्पण है जिसके आधार पर समाज की संरचना व विशेषताओं को समझा जा सकता है।

इन्होंने मुख्य रूप से बाराभूम की भूमिज जनजाति तथा बस्तर की जनजातियों के अतिरिक्त भारतीय जाति व्यवस्थाओं पर भी कार्य किया। अपने अध्ययन में इन्होंने पाया कि आदिवासी संस्कृति के भौतिक पक्ष अर्थात सभ्यता के आधार पर भारत में सभ्यता के विकास को समझा जा सकता है। अर्थात जनजाति सभ्यता से ही भारतीय सभ्यता का विकास हुआ है। आपने भारतीय जनजातियो में हो रहे व्यवसायिक परिवर्तन का अध्ययन किया है उनका विचार है कि जनजातीय संस्कृति कृषक संस्कृति की ओर परिवर्तित हो रही है। उनका विचार था कि अनेक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भौतिक तथ्यो का जातियो एवं जनजातियों में समान रूप से वितरण तथा उसकी जीवन शैली में समानता, उनके बीच होने वाली अन्तक्रिया का परिणाम है।

सिन्हा ने बिहार के भूमिक जनजाति पर हिन्दुओं केक बढ़ते प्रभाव जिसे उन्होंने हिन्दूकरण कहा पर लेख लिखे हैं। जिसमें इन्होंने जनजातीय सभ्यता व स्थानीय हिन्दू सभ्यता में अनेक प्रकार से समन्वय की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। साथ ही यह भी कहा कि अब जातियों की परम्परागत भूमिका सीमित हो गयी है तथा अब उन्होने नवीन राजनीतिक एवं आर्थिक भूमिकाएं निभाना प्रारम्भ कर दिया है।

इस प्रकार एन.के. बोस व सुरजीत सिन्हा दोनो ही भारत में सभ्यता परिप्रेक्ष्य के अग्रणी वितान माने जाते हैं। इन्होंने न केवल सभ्यता को आधार बनाकर स्वयं अध्ययन किया, अपितु अन्य विद्वानो को भी सभ्यतावादी अध्ययन की प्रेरणा दी।

4.3.5. संस्कृति और सभ्यता में अन्तर

सभ्यता की धारणा को सबसे अधिक मैकाइवर ने विश्लेषित किया उन्होंने प्रौद्योगिकी की चर्चा के सन्दर्भ में सभ्यता की चर्चा की सभ्यता संस्कृति का वह भाग है जो एक समय सन्दर्भ में समाज की भौतिक उपलब्धियों का कुल योग है। अलफ्रेड बेवर के अनुसार सभ्यता का अर्थ है वह वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञान जिसके द्वारा मानव प्रकृति के साधनों पर अपना नियंत्रण करता है। मैकाइवर के अनुसार सभ्यता भौतिक है इसे मापा जा सकता है। सभ्यता को श्रेष्ठ और निकृष्ट कहा जा सकता है उन्होंने सभ्यता और सकृति की

तुलना की है। मूलतः मैकाइबर के चर्चा के आधार पर संस्कृति और सभ्यता में निम्नलिखित अन्तर दृष्टिगत होते हैं।

1. संस्कृति आन्तरिक है एवं सभ्यता बाह्य है। सभ्यता को हम सरलता से अनुभव कर सकते हैं। संस्कृति व्यापक है सभ्यता उसका अंग है संस्कृति का वह पक्ष जिसमें सभ्यता शामिल नहीं किया जाता उन्हें सरलता से अनुभव नहीं किया जा सकता।
2. सभ्यता की माप की जा सकती है संस्कृति के साहित्य संगीत, नियम, मूल्य आदि के पक्ष को मापना संभव नहीं है। इसलिये सभ्यताओं को हम श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट कह सकते हैं संस्कृति के अभौतिक पक्ष के संबंध में ऐसा कहना कठिन है।
3. सभ्यता सरलता से अपनाई और सीखी जाती है। संस्कृति की अभौतिक पक्ष को सीखना कठिन है। कोई भी व्यक्ति भाषा, विचार और प्रतीकों को कठिनाई से सीख पाता है।
4. सभ्यता हस्तान्तरण सरल है और संस्कृति के प्रतिकात्मक पक्ष को हस्तान्तरित करना कठिन है।
5. सभ्यता अथवा संस्कृति के भौतिक पक्ष में आगे बढ़ने का भाव होता है अभौतिक पक्ष में जैसे नियमों, मूल्यों में यह भाव नहीं होता। संस्कृति बदलती जरूर है परन्तु वह अपने को घनीभूत करती जाती है।
6. सभ्यता का आधार प्रौद्योगिकी है तथा अभौतिक संस्कृति मूल्यों में निहित होती है। अनेक विद्वान इसलिये यह कहते हैं कि सभ्यता की तुलना आसान है। साहित्य, संगीत आदि तुलना नहीं की जा सकती।
7. सभ्यता साधनों का बोध कराती है। यह तकनीकी एवं उपायों से जुड़ी है। संस्कृति के अभौतिक पक्ष उन दिशाओं एवं उद्देश्यों का निर्धारण करते है जिन्हें प्राप्त करना है। मैकाइवर ने इस अन्तर को दर्शाने के लिये सभ्यता को एक जहाज एवं संस्कृति को उसका दिशा निर्देशक यंत्र बताया है।

4.3.6. संस्कृति और सभ्यता में संबंध

मैकाइवर द्वारा उल्लेखित उपरोक्त अन्तरों से प्रथम दृष्टया यह ज्ञात होता है कि सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे के विपरीत है उनमें किसी भी प्रकार का कोई समन्वय नहीं है। लेकिन सभ्यता और संस्कृति मानव जीवन के पूरक अंग हैं ये जितना एक दूसरे के विपरीत दिखते हैं उतना ही एक दूसरे से सम्बन्धित भी हैं और एक दूसरे को पूर्णता भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति में निम्नलिखित संबंध दृष्टिगत होते हैं-

1. संस्कृति और सभ्यता अन्योयाश्रित है- संस्कृति एवं सभ्यता भले ही एक दूसरे से पृथक हैं लेकिन वे एक दूसरे से विलग होकर जीवित नहीं रह सकते दोनों केवल अन्योयाश्रित नहीं है अपितु अन्तर क्रियाशील भी हैं। सभ्यता की वस्तुएं जिन्हें Artifacts कहते हैं, सांस्कृतिक वस्तुओं Mentifacts से

प्रभावित होती हैं तथा संस्कृति सभ्यता की दृष्टियों से प्रभावित होती हैं मनुष्य केवल किसी वस्तु को ही प्राप्त नहीं करना चाहता बल्कि सबसे सुन्दर वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। यहाँ पर संस्कृति सभ्यता को प्रभावित करती है। मोटर गाड़ी तथा रेडियों एक उपयोगी वस्तु हो सकती है परन्तु इसका माडल या रंग संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है।

2. सभ्यता और संस्कृति दोनों परस्पर प्रभावशाली है-सभ्यता एवं संस्कृति न केवल अन्योयाश्रित अपितु अन्तरक्रियात्मक भी हैं संस्कृति प्रौद्योगिक विकास के स्तर के प्रति अनुक्रिया करती है इस प्रकार साहित्य कला का स्वरूप मुद्रण यंत्र के विकास से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। चलचित्र के अविर्भाव से पूर्व नाटकीय प्रदर्शन मंहगे होते हैं जिन्हें केवल धनी लोग ही देखते थे। लेकिन आज असंख्य लोग सुदूर स्थानों पर बैठे इन प्रदर्शन का आनन्द लेते हैं। संचरण के साधनों के विकास ने अभिव्यक्ति के ढंगों पर गहन प्रभाव डाला है। सभ्यता संस्कृति का वाहन है, भूतकाल की अपेक्षा आज जबकि प्रौद्योगिकी उन्नति तीव्र गति से हो रही है यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हमारी विचारधारा, कला, नैतिकता सभ्यता द्वारा रूपान्तरित और अपसरित हो रही है।
3. संस्कृति सभ्यता को भी प्रभावित करती है-सभ्यता युग की शैलियों, मानदण्डों एवं विचारधारा से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकती, संस्कृति की अपनी निरन्तरता रहती है इन्हें तोड़ना कठिन है दोनों के बीच संघर्ष में संस्कृति सभ्यता पर विजयी हो जाती है। सांस्कृतिक मूल्यांकनों में किसी परिवर्तन का प्रभाव समूह की संस्थागत संरचनाओं पर पड़ता है। अन्य शब्दों में कहे तो सभ्यता समाज की चालक शक्ति है जबकि संस्कृति दिशा वाहक।

4.3.7. बोध प्रश्न

1. सभ्यता का अर्थ एवं अवधारणा स्पष्ट कीजिएं
2. सभ्यता की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
3. सभ्यता और संस्कृति में संबंध की विस्तृत विवेचना कीजिये।

4.3.8. संदर्भ ग्रंथ सूची

1. शर्मा, रामनाथ. और शर्मा, राजेन्द्र. कुमार. (1996). *भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक समस्याएं*. नई दिल्ली: अटलांटिक प्रकाशन.

नोट – **इस कृति का कोई भी अंश विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति लिए बिना पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।**

पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। संयोगवश यदि इसमें कोई भी कमी या त्रुटि रह गई हो तो इसके लिए संपादक, संयोजक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा। अवगत कराए जाने पर सुधार करने का प्रयास किया जाएगा।